सामयिक
वार्ता
अक्टूबर 2017 ❐ मूल्य : 20 रुपए



लोहिया को गुजरे पचास वर्ष

राममनोहर लोहिया/चार कविताएँ



शेष जो था / बालकृष्ण राव

कुछ भी न कहा,
जब तक सह सका
बिन बोले सहा-
और जब सहा न गया,
कहना तब चाहा
पर कहा न गया।
जो जितना जान सका
उतना ही बखान सका-
कौन भला नीचे जा,
चेतना के निम्नतम छोर से
कर सका पीड़ा का तल स्पर्श
भाषा की अधबटी डोर से?
माना गया वही जो जान गया,
कहा गया वही जो सहा गया,
शेष जो था
अनदेखा सपना था
किन्तु वही
पूरी तरह अपना था।

लोहिया / नरेश सक्सेना

(मृत्यु से लगभग एक वर्ष पूर्व लिखी गई)

एक अकेला आदमी
गाता है कोरस
खुद ही कभी सिकन्दर बनता है
कभी पोरस
(युद्ध से पहले या उसके
बाद या उसके दौरान)
जिरह-बख्तर पहन कर घूमता है अकेला
और बोलता है योद्धाओं की बोलियाँ
खाता है गोलियाँ
भाँग की या इस्पात की?
देश भर में होती है चर्चा
(अपनी ही जेब से चलाता है देश भर का खर्चा)
एक पेड़ का जंगल
शिकायत करता है वहाँ जंगलियों के न होने की।

लोहिया / उमाकान्त मालवीय

कोई चाहे जितना बड़ा हो,
उसका अनुकरण
उसका अनुसरण
तुम्हारी गैरत को गवारा नहीं,
तुम्हारा अनुकरण
तुम्हारा अनुसरण
कोई करे ऐसी हविस भी नहीं।
अनुकरण
अनुसरण
की बैसाखियाँ तुम्हें मंजूर नहीं
इसलिये,
जब तुम्हें मिले सन्देश
उस पार दूर गाँव के।
तुम चल दिये छोड कर आग पर
निशान पाँव के।

हमारी धमनियों के तुम मसीहा थे /बालकवि बैरागी

ओ बगावत की प्रबल उद्दीप्त पीढ़ी के जनक!
हम तुम्हें कितना जियेंगे कह नहीं सकता!
न जाने क्या समझ कर आँख मूँदे चल दिये तुम
हलाहल जो बचा है हम उसे कितना पियेंगे कह नहीं सकता।
तुम्हें देखा, तुम्हें परखा तुम्हें भुगता, सुना,
समझा तुम्हें हर रोज पढ़ते हैं तुम्हारा ढंग
अपना कर कभी हम बात करते हैं
तो वे मूरख समझते हैं कि लड़ते हैं-
मुबारक हो उन्हे उनकी समझ।
नयी भाषा, नई शैली नये रोमांच के सर्जक!
तुम्हारी हर अदा भरसक सहेजेंगे,
अमानत है शिराओं में तुम्हारे स्वप्न
ऐसे छलछलाते हैं कि हर बेजान गुम्बज को
हमारे स्वप्न से गहरी शिकायत है
मुबारक हो उन्हें उनकी शिकायत।
तुम्हारा 'वाद' क्या समझू
तुम्हारी जिद, तुम्हारा ढंग प्यार है
शुरू तुम कर गये मेरी जवानी के भरोसे पर
मुझे वो जंग प्यारा है।
यकीं रखो कि अंतिम फैसला होगा वही जो तुमने चाहा था
तुम्हारा हौसला झूठा नहीं होगा, भले ही टूट जाऊँ मैं, मेरी काया,
मेरी रग रग मगर संकल्प जो तुमने दिया टूटा नहीं होगा।
जवानी आज समझी है कि तुम क्या थे तुम्हें जो दर्द था वो हाय!
किसका था तुम्हारा अक्खड़ी लहजा तुम्हारी
फक्कड़ी बातें तुम्हारी खुश्क सी रातें
न समझो इस लहू ने टाल दी,
या कि सदियाँ भूल जायेंगी न अपना' प्राप्य तुमको
दे सके हम सब मगर उसको तुम्हारी धूल पायेगी।
करोड़ों उठ गये वारिस तुम्हारी एक हिचकी पर
कहीं विप्लव कुँआरा या कि ला औलाद मरता है?
हमारी धमनियों के तुम मसीहा थे, मसीहा हो सुनो!
तुमको बगावत का हर एक क्षण याद करता है।

सामयिक वार्ता

अक्टूबर 2017, वर्ष 40-41 अंक 7-12,1-4 (संयुक्तांक)

आवरण चित्र : चित्रकूट में डॉ. लोहिया। चित्र साभार आशा पटेल।

खाता नाम - सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा - सोनारपुरा, वाराणसी
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या **40170100005458**
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं S के बाद O (ओ) है।)
MICR CODE : 221012030
इस खाते में पैसा जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना ई-मेल अथवा मोबाइल-08765811730/ 08004085923

कार्यालय
डी. 28/160, पाण्डे हवेली, वाराणसी-221001
फोन : 08004085923 (संपादन),
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com

इस अंक में

सदस्यता शुल्क : एक प्रति : 20/-, वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

सम्पादकीय

लोहिया को गुजरे पचास वर्ष

डॉ राममनोहर लोहिया को गुजरे हुए पचास साल पूरे हो गए हैं। जिस वर्ष वे गुजरे, आठ राज्यों में एक साथ कांग्रेस सत्ता से बाहर हुई। भाषा, समानता, सादगी, बड़े लोगों की आय और खर्च पर पाबंदी, जैसी सोशलिस्ट पार्टी की नीतियों कों जनता से प्रबल समर्थन मिला था। संविद (संयुक्त विधायक दल) सरकारों ने खेती घाटे का धंधा होने के कारण लगान माफी लागू की,सरकारी कामकाज और अदालतों में देशी भाषाओं को स्थान दिया, भ्रष्टाचार की जांच के लिए आयोग गठित किए तथा ओडीशा जैसे राज्य में लोकपाल की नियुक्ति भी हुई। संयुक्त विधायक दलों में स्वतंत्र, जनसंघ और जन कांग्रेस के अलावा प्रसोपा, संसोपा और कम्युनिस्ट पार्टियां भी थीं। कांग्रेस को सत्ता से हटाने की जरूरत पर जोर देते हुए लोहिया ने कहा था, 'जनसंघ की एक पहाड़ सांप्रदायिकता से कांग्रेस की एक बूंद सांप्रदायिकता अधिक खतरनाक है चूंकि वह सत्ता में है।उसी प्रकार कम्युनिस्टों की एक पहाड़ गद्दारी कांग्रेस की एक बूंद गद्दारी से कम खतरनाक है चूंकि कम्युनिस्ट सत्ता में नहीं हैं।' फिलहाल, एक पहाड़ सांप्रदायिकता वाले दल के सत्ता में आने के बाद देश और समाज के लिए खतरा पहले से अधिक बढ़ ही गया है।

लोहिया के अपने शब्दों में, '1942-43 की अंग्रेजों के खिलाफ खुली बगावत के दौरान समाजवादी या तो जेलों में बंद थे अथवा पुलिस द्वारा सतत तलाशे जा रहे थे। कम्युनिस्ट विदेशी आकाओं की संगत में लोक-युद्ध छेड़े हुए थे। उसी दौर में मैं मार्क्स के सिद्धांतों को लागू किए जाने के प्रसंगों में व्यापक अंतर्विरोधों को देख कर विस्मित था। मेरे मन में मार्क्स के सिद्धांतों मे सच को खोज निकालने तथा झूठ को ध्वस्त करने की एक उत्कट इच्छा पैदा हो गई।अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास और दर्शन इन चार आयामों पर विचार करना था। अभी आर्थिक पक्ष पूरा नहीं कर पाए थे कि पुलिस के हत्थे चढ़ गए।

तब से अध्ययन और अभिव्यक्ति की इस शैली में मेरी रुचि नहीं बची है। किसी व्यक्ति-विशेष को केंद्र में रख कर कोई राजनैतिक क्रिया – कलाप तय नहीं किया जा सकता। स्वीकृति तथा अस्वीकृति अंधविश्वास के कम-बेसी दरजे मात्र हैं। मैं यह मानता हूं कि गांधीवादी होना या मार्क्सवादी होना नादानी है और गांधीवाद विरोधी या मार्क्सवाद विरोधी होना भी नादानी है। गांधी और मार्क्स के अनमोल खजानों से सीखने लायक बहुत कुछ है बशर्ते व्यक्ति और काल विशेष मात्र से संदर्भ और निष्कर्ष न निकाले जाएं।'

लोहिया ने इस नजरिए से मार्क्स की सीमा को रेखांकित किया। समतावादी अर्थशास्त्री और सामयिक वार्ता के पूर्व संपादक सुनील ने लोहिया के इस अवदान का निचोड़ इन शब्दों में रखा है, ''कार्ल मार्क्स ने हमे बताया कि किस प्रकार पूंजीवाद का पूरा ढाँचा मजदूरों के शोषण पर टिका है। मजदूर की मेहनत से जो पैदा होता है, उसका एक हिस्सा ही उसको मजदूरी के रूप में दिया जाता है। शेष हिस्सा 'अतिरिक्त मूल्य' होता है, जो पूँजीपति के मुनाफे का आधार होता है। यही मुनाफा पूँजीवादी विकास का आधार होता है। मार्क्स ने कल्पना की थी कि औद्योगीकरण के साथ बड़े बड़े कारखानों में बहुत सारे मजदूर एक साथ काम करेंगे। वर्ग चेतना के विकास के साथ वे संगठित होंगे, ज्यादा मजदूरी पाने के लिए आन्दोलन करेंगे। लेकिन मुनाफा और मजदूरी एक साथ नहीं बढ़ सकते। यही वर्ग संघर्ष बढ़ते बढ़ते क्रांति का रूप ले लेगा और तब समाजवाद आएगा। मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि पश्चिम यूरोप जहाँ पूँजीवादी औद्योगीकरण सबसे पहले व ज्यादा हुआ है, वहीं क्रांति सबसे पहले होगी।

किन्तु मार्क्स की भविष्यवाणी सही साबित नहीं हुई। क्रांति हुई भी तो रूस में, जो अपेक्षाकृत पिछड़ा, सामंती और कम औद्योगीकृत देश था। इसके बाद चीन में क्रांति हुई, वहाँ तो औद्योगीकरण नहीं के बराबर हुआ था। चीन की क्रांति तो पूरी की पूरी किसानों की क्रांति थी, जबकि मार्क्स की कल्पना थी कि सर्वहारा मजदूर वर्ग क्रांति का अगुआ होगा। पश्चिमी यूरोप में पूँजीवादी औद्योगीकरण के दो सौ वर्ष बाद भी क्रांति नहीं हुई। पूँजीवाद भी इस दौर में नष्ट होने के बजाए, संकटों को पार करते हुए, फलता फूलता गया।

मार्क्सवाद की इस उलझन को सुलझाने का एक सूत्र

तब मिला जब 1943 में डॉ. राममनोहर लोहिया का निबन्ध 'अर्थशास्त्र मार्क्स के आगे' प्रकाशित हुआ। इसे दुनिया के गरीब पिछड़े मुल्कों के नजरिए से मार्क्सवाद की मीमांसा भी कहा जा सकता है। लोहियाने बताया की पूंजीवाद का मूल आधार पूंजीवादी देशों में पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों का शोषण नहीं बल्कि उपनिवेशों के किसानों, कारीगरों और मजदूरों का शोषण है। यही 'अतिरिक्त मूल्य' का मुख्य स्रोत है। इसीके कारण पूंजीवादी देशों में मुनाफा मजदूरी का द्वन्द्व टलता गया, क्योंकि दुनिया के विशाल औपनिवेशिक देशों की लूट का एक हिस्सा पूंजीवादी देशों के मजदूरों को भी मिल गया। यह संभव हुआ कि मजदूरी और मुनाफा दोनों साथ साथ बढ़ें। इसीलिए पश्चिमी यूरोप में क्रांति नहीं हुई। इसी के साथ लोहिया ने लेनिन की इस बात को भी काटा कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था है। लोहिया ने कहा कि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का प्रारंभ और विकास एक साथ हुआ। बिना साम्राज्यवाद के पूंजीवाद का विकास हो ही नहीं सकता। मार्क्स की ही एक शिष्या रोजा लक्समबर्ग की तरह लोहिया ने बताया कि पूंजीवाद के विकास के लिए एक बाहरी उपनिवेश जरूरी है, जहाँ के बाजारों में माल बेचा जा सके और जहाँ से सस्ता कच्चा माल और सस्ता श्रम मिल सके। इसी विश्लेषण के आधार पर लोहिया ने कहा कि 'असली सर्वहारा तो तीसरी दुनिया के किसान मजदूर हैं। वे ही पूंजीवाद की कब्र खोदेंगे।''

समतावादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने लोहिया के इस सिद्धांत को आगे बढ़ाते हुए स्थापित किया कि देश के भीतर आंतरिक उपनिवेशों की लूट से भी यह आधुनिक औद्योगिक सभ्यता टिकी हुई है। सुनील ने इसी क्रम में यह स्थापित किया कि आंतरिक उपनिवेश सिर्फ भौगोलिक इलाके ही नहीं हैं अपितु खेती-किसानी जैसे अर्थव्यवस्था के क्षेत्र विशेष भी हैं।

संसदीय लोकतंत्र, रचनात्मक कार्यक्रम और अहिंसक संघर्ष को लोहिया ने 'वोट, फावड़ा, जेल' के लोकप्रिय प्रतीकों के माध्यम से पेश किया था। इन पचास सालों के समाजवादी राजनीति के तजुर्बे और कमजोरियों से उबरने के लिए सुनील ने लोहिया के नारे में दो और तत्व जोड़ने की बात कही- संगठन और सिद्धांत। यह मुट्ठी भर राजनैतिक कर्मी और उंका राजनैतिक समूह है जिन्होंने लोहिया के राजनैतिक और आर्थिक विश्लेषण को आगे बढ़ाने का काम किया।

किशन पटनायक का मानना था,' लोहिया इस माने में दुर्भाग्यशाली थे कि राजनैतिक सत्ता हासिल करने वाले और राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता पाने वाले उनके शिष्यों ने अवसरवाद की पूर्ति के लिए लिए ही लोहिया के नाम का उपयोग किया। बौद्धिक दिवालियापन तथा अभूतपूर्व अनुर्वरता इस अवसरवादिता का लाजमी तौर पर परिणाम है। इसी वजह से राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर किसी मूलगामी कार्रवाई की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। राजनीति के मोर्चे पर जनशक्ति के निर्माण के लिए धीरज के साथ काम करने का स्थान गालीगलौज और नौटंकी ने ले लिया है। समाजवादी, खास तौर पर लोहियावादी किस्म के परले दरजे के दंभी, स्वार्थी, व्यक्तिवादी हो गये हैं तथा आत्मोलचना तथा परस्पर राय-मशविरे के लिए जन्मजात तौर पर अयोग्य हैं। साथ बैठ कर अपनी विफलताओं पर विचार विमर्श करने में भी वे असमर्थ हैं।'

उम्मीद नई पीढ़ी के लोहियावादियों से बचती है। इस नई पौध को 'अर्थशास्त्र मार्क्स से आगे' तथा 'इतिहास चक्र' में व्यक्त लोहिया की विश्व दृष्टि से परिचित कराना होगा। इस नई पीढ़ी को यह ध्यान में रखना होगा कि उत्तराधिकारी प्रायः अनुयायी नहीं होता। चाहे वह अपने को विनीत भाव से शिष्य कहलाये। उत्तराधिकारी लकीर का फ़कीर नहीं होता। पूर्वानुवर्ती लोकनेताओं के द्वारा निर्दिष्ट दिशा में वह नए मार्ग प्रशस्त करता है और पगडंडियां खोजता है। स्वामी विवेकानंद, लोहिया, सच्चिदानंद सिन्हा, किशन पटनायक, सुनील उत्तराधिकारी होने के उपर्युक्त मानदण्ड पर खरे उतरते हैं और हमें प्रेरणा देते हैं।

अफलातून



''जब विद्यार्थी राजनीति नहीं करते तब वे सरकारी राजनीति को चलने देते हैं और इस तरह परोक्ष में राजनीति करते हैं।''

- राममनोहर लोहिया

डा. लोहिया की प्रासंगिकता

संदर्भः- समाजवादी सिद्धान्त का नया धरातल

ओम प्रकाश शर्मा

आज हमारा देश एक ऐसी राजनीति के दौर से गुजर रहा है जिसमें संविधान की उद्देशिका में वर्णित पंथ निरपेक्ष समाजवादी लोकतंत्र की अवधारणा खतरे में है। देश एक अप्रत्यक्ष तानाशाही की ओर अग्रसर हो रहा है। राजनीति सिद्धान्तहीन और विचारहीन सत्ता के लिए बेमेल समझोता बनती जा रही है। सिद्धांन्त और विचार की बात करने वाले दल और व्यक्ति हाशिये पर आते जा रहे है। छल की राजनीति हावी है। न कोई सैद्धातिंक निष्ठा है न दलीय निष्ठा न ही मतदाता के प्रति कोई उत्तर दायित्व जो जनता के साथ छल कर सकता है, वहीं सत्ता भोगता है। जनता के मत के साथ खिलवाड़ हो रहा है। मत क्या कह कर लिया जाता है, जीत कर क्या किया जायेगा कुछ भी निश्चित नहीं। जनता पांच साल तक ठगा सा महसूस करती है। ऐसी निराशा पूर्ण स्थिति में एक उदघोष गूंजता है कानो में '' जिंदा कौ में पांच साल तक इंतजार नहीं करती।'' एक ऐसा चेहरा आंखो के सामने उभरता है जिसने जितना संघर्ष आजादी को प्राप्त करने के लिए किया उतना ही संघर्ष आजादी को बचाए रखने के लिए किया वह चेहरा है। डा. राममनोहर लोहिया का। यदि असामयिक मृत्यु ने उन्हें हमसे जुदा न किया होता तो भारतीय राजनीति को तस्वीर कुछ और ही होती। लोहिया कैसा समाज बनाना चाहते थे? वे कैसा राज्य स्थापित करना चाहते थे? उनका समाजवादी सिद्धान्त क्या है? क्या लोहिया आज भी जरुरी है? राजनैतिक भटकाव की इस स्थिति में, आज लोहिया की प्रासंगिकता पर विचार करना आवष्यक है।

1952 में सोषलिष्ट पार्टी के पचमढ़ी सम्मेलन में डा. लोहिया ने जो अध्यक्षीय भाषण दिया वह पचमढ़ी थीसिस के नाम से जाना जाता है। इसी में डा. लोहिया ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में समाजवादी सिद्धान्त का नया धरातल उपलब्ध कराया था। लोहिया के अनुसार तुलनात्मक रुप से एक नई विचारधार होते हुए भी समाजवाद, पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच फंसा हुआ है। आज भी स्थिति वहीं है आज भी सोवियत रुस के पतन और पूंजीवाद के वैश्वीकरण और उदारीकरण के आक्रमण के बीच समाजवाद फंसा हुआ है और हम समाजवादी आज भी कभी साम्यवाद के पीछे खड़े नजर आते है कभी पूंजीवाद के, पर अपना स्वतंत्र और मजबूत अस्तित्व स्थापित नहीं कर पा रहे है इसलिए लोहिया आज भी प्रासंगिक है। हम उनके बताए समाजवादी रास्ते पर चल कर ही समाजवादी समाज स्थापित कर सकते है।

यह विज्ञान के निरन्तर परिवर्तित उपयोग से अधिक से अधिक उत्पादन, कम से कम लागत और अधिक से अधिक मुनाफा चाहता है। यह पूंजीवाद का आर्थिक लक्ष्य है। सामान्य लक्ष्य के रुप में यह विपरीत हितों में संतुलन, लोकतंत्र नैतिकता, शक्ति संतुलन से शांति चाहता है। पर पूंजीवाद ने दुनिया को हिस्सो में बांट दिया है। एक तिहाई आबादी ने जीवन की सब सुविधाएं एकत्रित कर ली और दो तिहाई आबादी दरिद्रता में डूब गई। श्वेत देश सुख सुविधा सम्पन्न हो गए और अश्वेत देश इनसे वंचित रह गए। दूसरी और साम्यवाद सामाजिक स्वामित्व और उत्पादन साधनों के निजी सम्पति के सम्बन्धो से मुक्ति का सिद्धान्त है। साम्यवाद के अनुसार आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति से सामान्य लक्ष्य स्वतः पूर्ण हो जाते है। उसके अनुसार मनुष्य को सरकार की जरुरत नहीं होगी चीजें स्वतः संचालित होगी। पर संक्रान्ति काल में पहिले एक केन्द्रीय पार्टी, एक केन्द्रित राज्य की स्थापना आवश्यक है। सर्वहारा की अधिनायकता राज्य की अनैतिकता एंव अंतिम आर्थिक लक्ष्य की अनुचर है। डा. लोहिया ने इस एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि साम्यवाद को तकनीकी उन्नति पूंजीवाद से विरासत के रुप में प्राप्त होती है। उत्पादन साधन पूंजीवादी ही होते है। केवल स्वामित्व और वितरण के सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। यूरोप में विकसित देशों में पूंजीवाद का साम्यवादी अभिनवीकरण सम्भव था पर अफ्रीका और एशिया में सम्भव नहीं था। यहॉ पूंजीवादी उत्पादन साधनों का विकास ही नहीं था, और आज भी तुलनात्मक रुप से बहुत कम है। भारत में कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का साम्यवादीकरण सम्भव नहीं था। पूंजी के अभाव में अपेक्षित औद्योगीकरण भी सम्भव नहीं था। और इसका स्वाभाविक परिणाम अर्थव्यवस्था में गिरावट और बेरोजगारों की फौज इकट्टा करना था। भारत की अर्थव्यवस्था स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही पूंजीवादी और साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं के बीच झूलती रही है। ऐसी परिस्थिति में भारत की अर्थव्यवस्था को

एक नए समाजवादी धरातल की आवश्यकता है। इस बिंदु पर डा. लोहिया आज भी प्रासंगिक है।

डा. लोहिया ने राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के लिए चौखम्भा राज्य की कल्पना की तो साथ में आर्थिक विकेन्द्रीकरण की योजना सामने रखी। कम पूंजी कम ऊर्जा से चलने वाली लघु औद्यौगिक इकाई जो बडे शहरों से लेकर झोपड़ियों तक उपलब्ध होगी। ये छोटी मशीन का सिद्वान्त सामान्य और आर्थिक लक्ष्यों को एक साथ प्राप्त करने का ठोस उपाय था। इस सिद्धान्त को विज्ञान की दृष्टि से प्रतिगामी बताया गया पर लोहिया को कहना था कि इस्पात, प्रतिरक्षा, उर्जा के क्षेत्र में भारी मशीन स्वीकार्य होगी। उनके अनुसार हमें सीमित पूंजीवाद और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था दोनों को नकारना होगा। हमें पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों से आगे जाना होगा।

डा. लोहिया की एक मौलिकता यूरोपीय समाजवाद से भारतीय समाजवाद के अंतर को समझाना था। यूरोपीय समाजवाद के पास पूंजीवाद द्वारा निर्मित उत्पादन शक्तियों का भंडार था पर हमारे पास ऐसा कुछ नहीं था क्योंकि अंग्रेज ने भारतीय उपनिवेश को कच्चा माल, श्रम और बाजार के स्त्रोत के रुप में ही बनाए रखा। हमारे यहां पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए उग्र वर्ग संघर्ष से भिन्न है क्योकिं साम्यवाद के हिंसक वर्ग संघर्ष में नैतिकता को स्थान नहीं। लोहिया साम्यवाद की तथा कथित अन्तर्राष्ट्रीयता, अधिनायकवादी पार्टी, लोकतांत्रिक पद्वति को तिलांजलि, बड़े पैमाने पर हिंसा आदि के विरुद्व थे। वे अगर पूंजीवाद की पूर्ण प्रतियोगिता के विरुद्व थे तो साम्यवाद के पूर्व सामाजिक स्वामित्व के भी विरुद्व थे। क्योंकि इन दोनों ही तरीकों से ही कहीं भी न तो आर्थिक समानता प्राप्त हुई, न सामाजिक समानता न ही अध्यात्मिक समानता सिद्वान्त दिया जिसके अनुसार पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों ही अप्रासंगिक हो चुके है। रुस में साम्यवादी व्यवस्था का पतन चीन का मुक्त बाजार में प्रवेश, अमरीका का वैश्वीकरण और उदारीकरण के नाम पर आर्थिक साम्राज्य स्थापित करना। इस प्रासंगिकता के सिद्वान्त की पुष्टि करते है।

समाजवादी क्रांति का रास्ता क्यो हो? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। लोहिया के अनुसार, पूंजीवाद और साम्यवाद क्रान्ति के लिए दो विकल्प सामने रखते है '' वोट या गोली'' पर लोहिया कहते है कि ये गलत विकल्प है। विकल्प चुनना है सत्याग्रह या गोली के बीच उनका कहना था कि रचनात्मक कार्यो के द्वारा समाजवादी पार्टी को शक्ति संचित करनी चाहिए और सत्याग्रह के द्वारा वर्ग संघर्ष को तेज करना चाहिए। सत्याग्रह यानि सिविल ना फरमानी मारेगें नहीं पर मानेगें भी नहीं। कार्यक्रम के रूप में वोट, फावड़ा और जेल अर्थात लोकतंत्र में आस्था, रचनात्मक कार्य और समाजवादी संघर्ष के लिए समाजवादी पार्टी को इसी कार्यक्रम के लिए प्रशिक्षित करना आज भी प्रासंगिक है। डॉक्टर लोहिया ने मार्क्स के बाद के अर्थशास्त्र का भी गहन अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पंहुचे कि यह धारणा गलत है कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अंतिम परिणीति है। वे दोनों को सहोदर मानते थे। उनके अनुसार पूंजीवाद अपने उत्पादन के लिए श्रम और बाजार के स्त्रोत के रुप में उपनिवेश कायम करता है और अपने साम्राज्यवाद का विस्तार करता है। वह औपनिवेशिक श्रम के शोषण से आंतरिक पूंजीवाद को शक्ति और गति प्रदान करता है। इसलिए पूंजीवाद युग में साम्राज्यवाद का विस्तार हुआ। अफ्रीका और एशिया के उपनिवेशों से पूंजीवाद ने शक्ति प्राप्त की और स्थानीय श्रमिकों के जीवन स्तर को उन्नत किया और यहाँ पूंजीवादी ढाचा खड़े नहीं होने दिया। इसी कारण मार्क्स के विपरीत पूंजीवादी क्रांति किसी विकसित पूंजीवादी राष्ट्र में न होकर रुस में हुई। भारत में तो आज भी साम्यवादी क्रांति की परिस्थितियों का निर्माण नहीं है। इसलिए हमारे लिए समाजवाद ही प्रासंगिक है।

डा. लोहिया ने अपने समाजवाद का वैश्विक रुप सप्रक्रांति के सिद्वांत के रूप में उद्घोषित किया। 1961 में लोहिया ने विश्वषांति परिषद के आयोजन में एथेंस में पहली बार विश्व मंच से ''सुप्रसिद्व विचार किया। डा. लोहिया ने कहा कि यदि में दुनिया को शस्त्रास्त्रों के खौफ से मुक्त करना है और दुनिया में न्यायधिष्ठित समाज व्यवस्था कायम करनी है तो हमारे लिए निम्न सप्रक्रांतियों की आवश्यकता हैः-

1. नरनारी समानता के लिए क्रांति

2. रंग भेद पर आधारित विषमता के विरोध में क्रांति

3. जन्म और जाति व्यवस्था पर आधारित विषमता के विरुद्व क्रांति

4. विदेशियों की गुलामी के विरोध में विश्व संसद की स्थापना के लिए क्रांति

5. निजी पूंजी से उत्पन्न विषमता के विरोध में और योजनाओं के जरिए उत्पादन वृद्वि के लिए क्रांति

6. व्यक्तिगत जीवन में किये जाने वाले हस्तक्षेप के विरोध में क्रांति और

7. शस्त्रास्त्रों के विरोध में और सत्याग्रह के लिए क्रांति

लोहिया जी को गुजरे हुए पांच दशक बीत चुके है पर उन्होंने जो सिद्वान्त, विचार और कार्यक्रम ने केवल भारत

बल्कि सम्पूर्ण विश्व में समाजवादी क्रांति के लिए सामने रखे थे वे आज भी वैश्विक और भारतीय परिदृश्य में पूर्णतः प्रासंगिक है। आज भी आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति एक अतृप्त प्यास में बदल गई है, सामान्य लक्ष्यों के नाम पर लुभावने नारे उदारीकरण और वैश्वीकरण के शिंकजों में कसे जा रहे है, पूरा विश्व अध्यात्मिक ऊँचाइयों से गिर रहा है, व्यक्ति और व्यक्ति, राष्ट्र और राष्ट्र के बीच आर्थिक विषमताएं चरम सीमा पर पंहुच गई है, भारत में तो पूरी अर्थव्यवस्था याराना पूंजीवाद के चंगुल में फंस कर छटपटा रही है। सम्पूर्ण लोकतंत्र, भूख, भय, भ्रष्टाचार, कुपोषण और अनैतिकता की भेंट चढ़ गया है। इन परिस्थितियों में डा. लोहिया आज और अधिक जरूरी और अधिक प्रासंगिक हो गए है। ●

गांधी-लोहिया की दृष्टि और समग्रता की तलाश

योगेन्द्र नारायण

भारतीय जीवन से समग्रता का लोप हो रहा है। न केवल भौतिक जीवन से, बल्की चिंतन से भी। पहले यह लोप स्पष्ट रूप से नहीं पहचाना जा रहा था, परन्तु अब सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। राजनीति, धर्म, चिंतन सव समग्रता के पाखण्ड मात्र बन गये हैं और हर जगह व्यक्ति की सत्ता ही सर्वोच्च दिखाई दे रही है। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध ने व्यक्ति को समष्टि बनते देखा है और इक्कीसवीं सदी के पूर्वार्ध में केवल व्यक्ति और समग्र के पाखण्ड ही दिखाई दे रहे हैं।

ऐसा नहीं होता कि एक समय में परिवर्तन की केवल एक धारा ही होती है। कई-कई धाराएं एक साथ काम करती हैं और अपना प्रभाव समष्टि पर छोड़ती हैं । इनमें कुछ धाराएं अनुकूल होती है और कुछ प्रतिकूल। उनका प्रभाव भी बैसे ही समाज पर पड़ता है। बीसवीं सदी में एक ओर गांधी व्यक्ति से समष्टि की ओर बढ़ रहे थे तो दूसरी ओर मोहम्मद अली जिन्ना समष्टि की ओर चलते-चलते व्यक्ति केन्द्रित हो गये। दोनों का प्रभाव अलग-अलग पड़ा। व्यक्तिवादिता ने देश को तोड़ा और गांधी की समष्टि यात्रा ने शेष पूरे देश को एक सूत्र में पिरोये रखा। जबकि व्यक्तिवादी राजनीति ने पाकिस्तान को पुनः दो हिस्सों में बांट दिया।

इस समय श्रेष्ठ वक्ता ही प्रमुख माना जाता है। गांधी श्रेष्ठ वक्ता नहीं थे। जिस समय भारतीय राजनीति में गांधी ने पैर रखा उस समय कांग्रेस में एक से एक बढ़ कर श्रेष्ठ वक्ता थे।उनके मुकाबले तो गांधी की वाग्मिता कुछ नहीं थी परन्तु गांधी की व्यक्ति से समष्टि की ओर की यात्रा ने उन्हें सबसे लोकप्रिय नेता बना दिया। गांधी का व्यक्ति जैसे जैसे लुप्त होता गया गांधी का हर वाक्य लोगों के लिए दिशा निर्देश बनता गया। गांधी की वाणी और हलचल पूरे देश की वाणी और हलचल बनती गयी और समष्टि भी सहयात्री बनते गये।

आजादी के वाद गांधी व्यक्तिवादी सोच और चिंतन के सामने लगातार अवरोध बने रहे, परन्तु इस तरह की सोच ने गांधी को ही खत्म कर दिया। क्या गांधी की सोच भी उनके साथ खत्म हो गयी। समष्टि की वह यात्रा बाधित हो गयी? दुनियां में गांधी की सोच को पूरी दुनियां को बचाये रखने का एक मात्र रास्ता के रूप में देखा। मार्टिन लूथर किंग और नेल्सन मण्डेला ने समष्टि की यात्रा को अपना आदर्श मान अन्याय के खिलाफ अपने समाज की लड़ाई को आगे बढ़ाया, परन्तु देश में कुछ समय बीतते-बीतते समष्टि की यह यात्रा थमने लगी।

इस थमाव को राममनोहर लोहिया जैसे कुछ लोग देख रहे थे और उसको अच्छी तरह पहचान रहे थे, परन्तु इनमें सबसे प्रमुख व्यक्ति लोहिया ही साबित हुए। गांधी की तरह लोहिया के लिए भी व्यक्ति गौढ था। उनके पास अपना तो कुछ था ही नहीं। जो था देश और पूरी दुनियां का था। गांधी और लोहिया दोनों सत्ता, संपत्ति और सम्मान की चिंता किये वगैर समष्टि की ओर की यात्रा में लगे रहे।

गांधी के सामने सबसे बड़ा लक्ष्य था स्वराज्य और सुराज। स्वराज्य तो मिला परन्तु सुराज का लक्ष्य अधूरा ही रहा। स्वराज्य की लड़ाई के साथ ही गांधी सुराज की भी लड़ाई लड़ रहे थे और उनका सबसे बड़ा कार्य इन दोनों लक्ष्यों को पाने के लिए लोगों को निर्भय बनाना, आत्म निर्भर बनाना और सत्य और अहिंसा के रास्ते पर कायम रहना सबसे बड़े हथियार और लक्ष्य दोनों थे। गांधी का यह प्रयोग ऐसा था जिसमे हथियार और लक्ष्य दोनों एक ही थे।

लोहिया के सामने देश में सिर उठा रहा व्यक्तिवाद अब बड़ी चुनौती था। सत्ता और सम्पत्ति पर व्यक्तिवाद भारी पड़ता जा रहा था। लोहिया के सहयात्री भी भटकाव के शिकार हो रहे

थे। ऐसे में भी बिना किसी भय के लोहिया समग्र की यात्रा को बुद्धि और बल दोनों के साथ आगे बढ़ाने के लिए संघर्षरत रहे। उन्होंने देश और दुनियां से व्यक्तिवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिए सप्तक्रान्ति का हथियार गढ़ा। इसमें पूरी दुनियां और देश में अन्याय के खिलाफ हर ओर से हमले की कोशिश की। आर्थिक गैरबराबरी, रंगभेद, लिंगभेद, जाति प्रथा और हथियारों की होड़ के खिलाफ तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं लोक भाषा के लिए अनवरत एक साथ संघर्ष की वकालत की।

एक ओर लोहिया कथनी और करनी में भेद से चिढ़ते थे तो दूसरी ओर वाणी में स्वतंत्रता और कर्म पर नियंत्रण की तरफदारी करते थे। बोलने की आजादी को वे किसी भी न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिए अनिवार्य मानते थे। सच्चाई को बेहिचक सामने रखने और अन्याय के खिलाफ संघर्ष छेड़ देने के कारण आजादी के वाद लोहिया को कई बार जेल जाना पड़ा और जब तक लोग उनको और उनकी बात को समझ कर खड़े हो पाते लोहिया इस दुलियां से चले गये। उनकी समग्रता की इस लड़ाई को बाद में जयप्रकाशजी ने संभाला परन्तु आंशिक सफलता के साथ ही उनका स्वास्थ्य आड़े आ गया और वे भी इस दुनियां से बिदा हो गये। समग्रता की तलाश में निकले यह तीनों महायात्रियों को अपने प्रयासों में सफलता तो मिली परन्तु आंशिक।

गांधी धर्म के मामले में आस्तिक थे और लोहिया नास्तिक, परन्तु गांधी की आस्तिकता मंदिरों, मठों और महन्तों की आस्तिकता नहीं थी। सत्य ही उनका ईश्वर था और धर्म 'पीर पराई जाढें रे' का था। लोहिया की नास्तिकता अजीब थी। उनकी नास्तिकता मंदिरों, मठों और महन्तों से परे तो थी ही परन्तु रामायण मेले की वे कल्पना करते थे। राम और कृष्ण को वे ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखते थे, परन्तु राम के मर्यादित, कृष्ण के उन्मुक्त और शिव के असीमित व्यक्तित्व की वे कामना करते थे। वे मानते थे कि धर्म श्रेयस की खोज करता है और राजनीति बुराई से लड़ती है। धर्म जब श्रेयस की खोज बंद कर देता है तो उसमें सड़ांध आ जाती है और राजनीति जब बुराई से लड़ना बंद कर देती है तो कलही हो जाती है। एक नास्तिक की धर्ग और राजनीति की यह समझ अच्छे से अच्छे धर्माचार्य और राजनेताओं से श्रेष्ठ है और उनके लिए मार्ग दर्शक है। स्पष्ट रूप से कहा जाय तो गांधी और लोहिया दोनों का धर्म आस्तिकता और नास्तिकता की परिधि से परे है।

वर्तमान समय में धर्म मंदिरों, मठों, मस्जिदों और मुल्लाओं तक सिमट गयी है। न धर्म समाज के लिए श्रेयस की खोज कर रहा है और न मुसलमान ईमान की तलाश कर रहा है। सब कुछ कर्मकाण्डों में सिमट गया है। धर्म के अर्थ को हम लगातार संकुचित करते जा रहे हैं और धर्म का उपयोग अपने स्वार्थों की पूत्रि में कर रहे हैं। इस सड़ांध युक्त धर्म और कलही राजनीति का गठजोड़ देश की पूरी राजनीति संचालित कर रही है।

एक कथा के अनुसार एक बार काशी में घोर अराजकता का साम्राज्य हो गया था, व्यवस्था नाम की कोई चीज ही नहीं रही। पूरी तौर पर असफल होने पर देवताओं ने दिवोदास को काशी का राजा बनाना चाहा। दिवोदास इस शर्त पर राजा बनना स्वीकार किया कि सभी देवता काशी छोड़ कर चले जायं। देवताओं के काशी से निकल जाने के बाद दिवोदास ने काशी की व्यवस्था दुरुस्त की। सत्य का प्रचार बढ़ा और दिवोदास से काशी में धर्मपूर्वक राज्य किया। यह कथा स्पष्ट रूप से बताती है कि धर्म अलग चीज है और देवता अलग, लेकिन इस समय तो देवता ही धर्म के पर्याय बन गये हैं। हम राम की बात तो करते हैं परन्तु राम की उस मर्यादा को नहीं मानते जिसके कारण राम को हम पहचानते हैं। राम जिस धर्ममय रथ का वर्णन विभीषण के सामने कर रहे हैं, उस धर्म को भी नहीं मानते।

सन् 1916, चार फरवरी, काशी विश्वविद्यालय का स्थापना समारोह। समारोह का कामकाज अंग्रेजी में चल रहा था। सभी वक्ता अंग्रेजी में बोल रहे थे। समारोह के तीसरे दिन हुआ गांधीजी का भाषण बेहद उग्र था। शायद इसके बाद उन्होंने इतना उग्र भाषण फिर कभी नहीं दिया। भारत की गरीबी को लेकर समारोह में उपस्थित राजा-महाराजाओं के प्रति उनका गुस्सा जैसे फट पड़ा था। इसी समारोह में देश की भाषा के बारे में उन्होंने कहा- पिछले दो दिनों में यहां जो भाषण दिये गये हैं यदि उनमें लोगों की परीक्षा ली जाय और मैं परीक्षक होऊं तो निश्चित है कि ज्यादातर लोग फेल हो जायं। क्यों? इसलिए कि इन व्याख्यानों ने उनके हृदय नहीं छुए। मैं गत दिसम्बर के राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन में मौजूद था। वहां बहुत अधिक तादाद में लोग इकट्ठा हुए थे। आप को ताज्जुब होगा कि बम्बई के वे तमाम श्रोता केवल उन भाषणों से प्रभावित हुए जो हिन्दी में दिये गये थे। ध्यान दीजिए यह बम्बई की बात है, बनारस की नहीं, जहां सभी लोग हिन्दी बोलते हैं। बम्बई प्रान्त की भाषाओं और हिन्दी में उतना फर्क नहीं है जैसा अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में है और इसलिए वहां के श्रोता हिन्दी बोलने वाले की बात ज्यादा आत्मीय भाव से समझ सके। मुझे आशा है ि कइस विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जाएगा। हमारी भाषा हमारा ही प्रतिबिंब है और इसलिए यदि आप मुझसे यह कहें कि हमारी भाषाओं में उत्तम विचार

अभिव्यक्त किये ही नहीं जा सकते तब तो हमारा इस संसार से उठ जाना अच्छा है। क्या कोई व्यक्ति स्वप्न में भी यह सोच सकता है कि अंग्रेजी भविष्य में किसी भी दिन भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है? फिर राष्ट्र के पावों में यह बेड़ी किस लिए?

कोलकाता में एक बार एक हाल में तिलकजी का भाषण हुआ। तिलकजी अंग्रेजी में बोले। समा में गांधीजी भी उपस्थित थे। गांधीजी ने उपस्थित लोगों से पूछा कितने लोग तिलकजी का भाषण समझे? एक सौ से भी कम लोगों ने हाथ उठाया। गांधीजी ने पूछा यदि तिलकजी हिन्दी में बोले होते तो कितने लोग समझ सकते थे? सभी ने हाथ उठाया। इसके बाद तिलक जी ने हमेशा हिन्दी में ही भाषण दिया।

अंग्रेज, अंग्रेजियत और अंग्रेजी के खिलाफ गांधीजी संघर्षरत थे। देश की आजादी के बाद लोहिया ने इस लड़ाई को आगे बढ़ाया। सन् 1954 से लोहिया ने अंग्रेजियत के प्रतीक चिन्हों के खिलाफ बोलना शुरू कर दिया था। अंग्रेजी हटाओ के सन्दर्भ में बोलते हुए उन्होंने एक बार कहा कि कुछ लोगों ने 'अंग्रेजी हटाओ' को 'अंग्रेजियत हटाओ' के अर्थ में पकड़ लिया है। अगर अंग्रेजियत के मतलब नकलीपन और कृत्तिमता है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। लेकिन इसके मतलब होते हैं, औरतों के होठों पर लाली न लगना, अथवा औरत-मर्द के चिपक नाच के बजाय भरतनाट्यम और कत्थक का ही चलते रहना, अथवा अष्टवर्षात या षोडषवर्षति भवेत गौरी का होना या तलाक का न होना, तब मुझे कहना पड़ता है कि भाषा रूपी रथ को दोनों अथवा और भी वृत्तियों को समान रूप से बहन करना चाहिए। हिन्दी में इतनी सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह पवित्रता और छिनाली के, दोनों के काम बराबर आ सके।

प्रथम राष्ट्रीय आन्दोलन के शताब्दी के अवसर पर उत्तर प्रदेश सोशलिस्ट पार्टी ने दस मई 1957 से सत्याग्रह की घोषणा की जिसमें मुख्य मुद्दा थे - सार्वजनिक स्थलों पर लगे अंग्रेजों के पुतले हटाये जायं और अंग्रेजी भाषा का सार्वजनिक उपयोग बंद कर दिया जाय। इस सत्याग्रह के तहत वाराणसी के बेनिया पार्क में लगी रानी विक्टोरिया की पूर्ति राजनारायणजी के नेतृत्व में हटा दी गयीं। राजनारायणजी और साथियों को इस आरोप में 19 महीने की सजा हुई। यह आन्दोलन दूसरे राज्यों में भी फैला और अंग्रेजों की मूर्तियां हटायी जाने लगी। बाद में सरकार ने भी अंग्रेजों की मूर्तियों को हटाने का निर्णय कर लिया। इस प्रकार सत्याग्रह का एक मुद्दा अन्तिम परिणति पर पहुंचा, परन्तु अंग्रेजी हटाने का मुद्दा इतना आसान नहीं था। इसके लिए लोहिया ने जगह- जगह पूरे देश में सभाएं करनी शुरू कर दिया। इस प्रयास में लोहिया को काफी विरोध झेलना पड़ां कोयम्बटूर में सन् 1961 में उनकी सभा पर पथराव हुआं। अंग्रेजी परस्त पार्टियों ने लोहिया के खिलाफ दुसप्रचार शुरू कर दिया कि वे तो पूरे देश पर हिन्दी थोपना चाहते हैं। इस प्रचार में अंग्रेजी समाचार पत्रों की बड़ी भूमिका थी। जबकि लोहिया बार-बार स्पष्ट कर रहे थे कि अंग्रेजी हटाओ का मतलब भारतीय भाषा लाओ है, हिन्दी लाओ नहीं। अंग्रेजी के सार्वजनिक प्रयोग के खिलाफ लोहिया ने दलों की सीमा से परे जा कर अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन का गठन किया, और देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा के लिए देश के हर क्षेत्र के लोगों से सहयोग की अपील की। अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन का पहला अधिवेशन 28-29 अक्तूबर 1959 को नासिक(महाराष्ट्र) में हुआ। इस सम्मेलन का सारा काम ऐसे लोगों को सौंपा गया जिनका सम्बन्ध सक्रिय राजनीति से नहीं था। मराठी के सुप्रसिद्ध कवि कुसुमाग्रज इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे तथा अध्यक्षता असमिया के प्रसिद्ध कवि वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने की। श्री भट्टाचार्य बाद में साहित्य अकादमी के अध्यक्ष रहे। उद्घाटन मराठी के ख्याति प्राप्त साहित्यकार गजानन त्र्यम्बक माडखोलकर ने किया। सम्मेलन की सफलता के लिए हरिजन के सम्पादक और गुजरात विश्वविद्यालय के उपकुलपति मगनभाई देसाई, मैसूर विश्वविद्यालय के उपकुलपति के.ही. पुटप्पा, महापन्डित राहुल सांकृत्यायन, एन0 बी. कृष्ण बारियार, नवकृष्ण चौधरी ने शुभकामनाएं भेजी।

अंग्रेजी के सार्वजनिक उपयोग पर रोक के लिए चलाये गये इस आन्दोलन का पहला विस्फोट बनारस में हुआ, जब काशी विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ और संस्कृत विश्वविद्यालय के छात्रों के साथ अन्य विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के छात्र 29 नवम्बर 1967 को सड़कों पर उतर आये। अंग्रेजी हटाओ के लिए काशी विश्वविद्यालय के सिंह द्वार से निकले छात्रों एवं युवकों के जुलूस पर रत्नाकर पार्क (शिवाला) पर पुलिस ने गोलियां चलायी जिससे एक व्यक्ति मारा गया और तीस व्यक्ति घायल हुए तथा 188 व्यक्ति गिरफ्तार हुए। बनारस में राजभाषा संशोधन विधेयक के विरोध में काशी विश्वविद्यालय के छात्रों ने 27 नवम्बर से ही कक्षाओं का वहिष्कर कर जुलूस बना कर सड़कों प्रदर्शन शुरू कर दिया था।

इस घटना के बाद लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, पटना, जयपुर, दिल्ली, मोतिहारी, गाजीपुर, आजमगढ़, बलिया, गोरखपुर आदि शहरों में छात्रों और युवकों का आक्रोश फूट पड़ा। कर्फ्यू, लाठीचार्ज आदि दमनात्मक कार्रवाइयों का सिलसिला काफी समय तक चलता रहा।

इलाहाबाद में सात दिसम्बर को राजभाषा विधेयक के विरोध में श्रीमती महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, सेठ गोविन्ददास ने पद्मभूषण अलंकार को लौटाने की घोषणा की। बाद में रामकुमार वर्मा, गोपाल प्रसाद व्यास, रामचन्द्र वर्मा, रायकृष्ण दास, हरिशंकर शर्मा, सूर्यनारायण व्यास, माखनलाल चतुर्वेदी, सत्यनारायण शास्त्री, हरिभाऊ उपाध्याय ने राष्ट्रपति द्वारा दिये गये अलंकरण त्यागने की घोषणा की।

वाराणसी में तीन जनवरी 1968 को काशी विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर विज्ञान कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर हजारों अंग्रेजी विरोधी प्रदर्शनकारियों और सशस्त्र पुलिस के बीच कई घंटे तक जमकर लड़ाई हुई। पुलिस आंसू गैस के सौ गोले फेंके और लाठी चार्ज कियां। इन सब के बावजूद करीब एक दर्जन छात्रों ने अधिवेशन में जैसे ही श्रीमती इन्दिरा गांधी भाषण देने के लिए खड़ी हुई, उन्हें काले झंडे दिखाये और अंग्रेजी विरोधी नारे लगाये। पुलिस ने दो सौ से अधिक प्रदर्शनकारियों को गिरफ्तार किया। इस तरह यह आन्दोलन करीब ढाई महीने तक चलता रहा। इस आन्दोलन के चलते बाजारों से अंग्रेजी में लिखे साइनबोंर्ड साफ हो गये। सरकारी कार्यालयों से भी अंग्रेजी में लिखे बोर्ड हट गये, परन्तु यह सब उपलब्धि आंशिक ही रही और राजभाषा संशोधन विधेयक पारित हो गया जिसके चलते अंग्रेजी का चलन अब तक कायम है। इस आन्दोलन को केवल साहित्यकारों और नेताओं का ही समर्थ्रन नहीं था, बल्की प्रोफेसर सत्येन बोस जैसे वैज्ञानिकों का भी समर्थन प्राप्त था। प्रो0 बोस के नाम पर ही बाद में खोजे गये डार्क मैटर का नाम बोसान पार्टिकिल रखा गया।

सामान्य तौर पर देखने से यह सब लड़ाई आंशिक सफलता पा सकीं या आधी-अधूरी लग सकती हैं, लेकिन व्यक्ति स्वातंतत्र्य और समग्रता की तलाश में देश और पूरी दुनियां में हो रही लड़ाइयों में काफी अहमियत रखती हैं और गांधी, लोहिया और जयप्रकाश नारायण को इस लड़ाई के सिपहसालारों में हमेशा याद किया जायेगा तथा यह लड़ाई बिना थके, बिना रुके अपने लक्ष्य को पाने के लिए चलती रहेगी। *(डी 54/155-5 श्रीनगर कालोनी, वाराणसी)*

नोटबंदी, जी एस टी और साम्प्रदायिकता भारत के कॉर्पोरेटीकरण की चाल

अनुराग मोदी

नोटबंदी से कोई कालाधन बहार नहीं आया, ना ही आतंकवाद रुका; यहयोजना पूरी तरह विफल रही, यह बात अब आर बी आई की रिपोर्ट के बाद एक आंकलन भर नहीं बची है। आर बी आई ने अपनी हालिया रिपोर्ट में यह बताया कि, 500 और 1000 रुपए के जो नोटबंद किए थे, उसमें से लगभग 99% नोट वापस आ गए है; याने, उसके बदले नए नोट जारी हो गए है। जी एस टी के दुष्परिणाम भी दिखने लगे हैः इन दोनों के चलते सकल घरेलू उत्पाद पिछले साल इसी समय की तुलना में दो प्रतिशत से ज्यादा गिर गया – 7.9% से 5.7% भर रह गया।

तो, अब सवाल यह है – नोटबंदी और जी एस टी क्यों लाए? असल में भारत में आने वाली विदेशी-देशी कंपनियों के समूह के लिए यह जरूरी था : जितना ज्यादा व्यापार ऑनलाइन होगा, उतना उनका कब्जा बढेगा; साथ ही, टैक्स व्यवस्था भी ऑनलाइन और क्लिष्ट होने से, छोटे-छोटे व्यापारी खत्म हो जाएंगे।

इस सवाल पर हम आगे बात करें, उसके पहले हम जापान के यस बैंक से जुडी,'सॉफ्ट बैंक विजन फंड' के सी ई ओ, राजीव मिश्रा,के 1 सितम्बर, 2017 को अंग्रेजी के अख़बार, टाइम्स ऑफ़ इन्डिया में छपे एक साक्षात्कर के कुछ महत्वपूर्ण अंशों पर नजर डालें। 'सॉफ्ट बैंक विजन फंड' 6 लाख करोड़ रुपए के फंड के साथ पिछले कुछ माह में दुनिया का सबसे बड़ा 'टेक्निकल फंड' बन गया है; इसमें एप्पल से लेकर दुबई और सयुंक्त अरब अमिरात के शेखों का पैसा लगा है। राजीव मिश्रा ने कहाः वो अपने आपको सबसे बड़ा इसलिए बना रहें है, क्योंकि इन्टरनेट की इस दुनिया में 'जीतने वाला सब कुछ ले जाता है' का सिद्धांत लागू होता है; इसमें कोई नंबर दो नहीं होता। पिछले 6 माह में ऑनलाइन धंधा करने वाले फ्लिप्कार्ट, पे-टी-एम, ओला, होटल बुकिंग की साईट से लेकर किराना व्यापार की साईट ग्रोफेर्स में वोनिवेश कर चुके है; इसमें, अकेले 25 हजार करोड़ तो फ्लिप्कार्ट, पे-टी-एम में ही लगाया है। इतना ही नहीं, वो ई-कॉमर्स के धंधे में लगे सारे प्रतिस्पर्धीः जैसे किराना में ग्रोफेर्स और बिग-बास्केट; फ्लिप्कार्ट और अमेज़ान; ओला-उबेर में एक साथ पैसा लगाकर उन्हें एक तरह से साथ ला रहें है। उधर पे-टी-एम की पीछे चीन का

अलीबाबा है, यह हम जानते हैं।

असल में नोटबंदी और जी एस टी, जिसे कालाधन और टैक्स चोरी रोकने वाला आर्थिक सुधार बताया जा रहा है, वो मोदी सरकार के कॉर्पोरेटीकरण के एजेंडे का हिस्सा है। इसके पहले रिटेल और अनेक क्षेत्रों में 100% एफ डी आई की मंजूरी दी। सरकार स्थानीय छोटे व्यापारियों को खत्म कर करोड़ों लोगों के हाथों का व्यापार चंद कॉर्पोरेट के हाथों में देना चाहती है।

इस लेख अगला हिस्सा मैंने पिछले माह लिखा थाः

टैक्स और व्यापार के कड़े नियम की कानूनी लड़ाई की झंझटो में फंसकर अमेरिका और यूरोप में छोटे व्यापारी कॉर्पोरेट के सामने टिक नहीं पाए;अमेरिका में 1950 में 27% लोग अपने धंदे में लगे थे, जो 2013 में मात्र 7% बचे। 2015 के आंकड़ों के अनुसार, वहांहर साल जितने नए व्यापार खुलते है, उसकी अपेक्षा 70 हजार ज्यादा बंद होते है।जिस तरह सरकार भारत जैसे देश में डिजिटल पेमेंट की अव्यवहारिकता और जी एस टी की पेचीदगियों को नजरंदाज कर उसके गुणगान में लगी है, उससे लगता हैःभारत में भी छोटे व्यापारी खत्म हो जाएंगे।

वित्त मंत्री अरुण जेटली ने 22 जुलाई, शनिवार के दिन दिल्ली इकॉनोमिक कॉन्क्लेव में बोलते हुए कहाः नोटबंदी और जी एस टी के बाद नगद में धंधा करना बहुत मुश्किल हो जाएगा। इन दोनों फैसलों से यह साबित करने की कोशिश हो रही है कि नगद में व्यापार करने से कालाधन पैदा होता है और अबतक के कर प्रावधानों से कर की चोरी होती थी। मतलब - व्यापारी अब-तक कालाधन पैदा करने और कर चोरी में लगे थे।

लेकिन इस नोटबंदी   से देश के व्यापार की हालात अचानक शरीर से सारा खून चूसने वाले मरीज जैसी जरुर हो गई है - स्माल स्केल स्केल इंडस्ट्रीज में 15-20% जॉब चले गए। अन्य सेक्टर पर भी इसकी मार पड़ रही है।वहीं जी एस टी से जो एक्सपोर्ट बढ़ने की बात हो रही थी; वो भी अभी तो उसके उल्ट समझ आ रहा है। फेडरेशन ऑफ इंडियन एक्सपोर्ट आर्गेनाईजेशन ने सरकार से कहा कि टैक्स में 60 दिन की उनकी पूंजी फंसने से भारतीय एक्सपोर्ट 2% महंगा हो गया है, जिससे वो अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक पाएंगे।वहीं स्माल स्केल मैन्युफैक्चरिंग इंडस्ट्रीज के राष्ट्रीय अध्यक्ष के. ई. रघुनाथन का कहना है कि जी एस टी में टैक्स इनपुट मिलने में 120 से 140 दिन लगेंगे जिससे लागत पूंजी लगभग 18% के आसपास बढ़ने से खर्चे बढ़ेंगे। कपड़ा व्यापारी अलग हड़ताल पर है।

नोटबंदी और जी एस टी जैसे फैसले लागू करने के पहले सरकार ने इस बात का कोई अध्ययन नहीं किया कि इसका करोड़ों स्थानीय व्यापरियों पर क्या विपरीत असर पड़ेगा?

हम यह नहीं कह रहे कि सरकार नए नियम कानून ना बनाए और टैक्स वसूली ना बढाएं। सरकार व्यापार व्यवस्था में जरुरी सुधार लाएं और देश के विकास के लिए टैक्स वसूली भी बढाए – यह अच्छी बात है। लेकिन, ऐसा था तो 2016-17 के केन्द्रीय बजट में कंपनीयो को 6 लाख 11 हजार करोड़ से ज्यादा की राजस्व कर वसूली में छूट क्यों दी गई? – जो हमारे कुल बजट का एक तिहाई हिस्सा है। दूसरा, एक तरफ बड़े-बड़े व्यापारिक घरानों को छूट और खुदरा व्यापारियों को डंडा यह क्यों हो रहा है? बैंकों का पैसा चुकाए बिना माल्या देश से भाग गए, अडानी ग्रुप पर 72 हजार करोड़ रुपए का ऋण है; कुल 44 कॉर्पोरेट घरानों पर 4 लाख 26 हजार 4 सौ करोड़ का बकाया सरकार बट्टे खाते में डाल चुकी है। वहीं छोटे-छोटे व्यापारियों से लोन वसूली के लिए उनकी निजी सम्पती तक नीलाम कर दी जाती है।

व्यापारी बनाम कॉर्पोरेट

भारत में व्यापार का अपना तरीका लम्बे समय से चला आ रहा है, इसलिए बिना किसी औपचारिक व्यावसायिक शिक्षा के इतने करोडो लोग व्यापार में लगे है; यहाँ पांचवी पास भी आराम से व्यापार कर लेता है। भारत सरकार की संस्था, नेशनल सैंपल सर्वे की हालिया रिपोर्ट के अनुसारः भारत में औनोपचारिक छेत्र में 6 करोड़ तीस लाख प्रतिष्ठान है; इसमें 84% में परिवार के सदस्य ही काम करते है, और जिसमें 11 करोड़ लोग काम में लगे है; यह 11 लाख 50 हजार करोड़ का उत्पादन करते है। इन्हें कॉर्पोरेट के तरह टैक्स में छूट या बैंक लोन जैसी कोई सुविधा भी नहीं मिलती है। इसमें से 36%, याने दो करोड़ 26 लाख दुकाने है। स्वभाविक है, यह नगद में काम करते होंगे। इस सारे व्यापार को कॉर्पोरेट कब्जे में करने के लिए जरुरी था कि अब-तक प्रचलित व्यापार के तरीके पर सवालिया निशान लगाया जाए; और कानूनी रोक भी लगाईं जाए। पहले नोटबंदी और अब जी एस टी ने यह काम कर दिया है।

देशी-विदेशी बड़े कॉर्पोरेट यह चाहते है कि अमेरिका और यूरोप की तर्ज पर भारत में भी भी व्यापार हो।अमेरिका और यूरोप में पहले भारत की तरह स्थानीय व्यापारी होते थे, जो व्यापार करते थे और किसान खेती। मगर धीरे-धीरे वहां

चंद बड़े कॉर्पोरेट के हाथों में सारा व्यापार चला गया; वहां की जतना की पूरी जिन्दगी वो नियंत्रित करते है। वहां जनता वही खाती और पहनती है, जो यह कंपनिया बनाती है। यहाँ तक वहां की खेती भी काफी हद-तक चंद बड़े कारपोरेशन के हाथों में है। यूरोप में भी कमीबेशी यही हाल है।

असल में डिजिटल पेमेंट और जी एस टी यह दोनों ही मल्टीनेशनल कंपनी के व्यापार को आसान बनाएंगे; वो इसी का इन्तजार कर रहे थे। इसलिए, 1 जुलाई को जी एस टी लागू होते ही, 9 जुलाई को केंद्र सरकार ने अमेरिकी ई-कॉमर्स कंपनी अमेज़ान को फ़ूड रिटेल में 100% विदेशी पूंजी लगाने 3200 करोड़ के प्रस्ताव को मंजूरी दी; और महाराष्ट्र सरकार ने अमेरिकी वाल्ल्मार्ट को 15 होलसेल स्टोर खोलने के प्रस्ताव को मंजूरी दी। इतना ही नहीं, 14 जुलाई को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के अधक्षता में हुई बैठक में एफ डी आई नीति की समीक्षा की गई, जिसमेंः मल्टी-ब्रांड रिटेल में एफ डी आई 51% से बढ़ाकर 100% करने की बात है; वहीं, सिंगल ब्रांड में इसके 100% को आटोमेटिक रूट में डालने के बात है, अभी 49% से उपर सरकार की मंजूरी लगती है। निर्माण के छेत्र में अविकसित प्लाट में भी 100% एफ डी आई को अनुमति देने और प्रिंट मीडिया में इसे और उदार बनाने के प्रस्ताव जल्द पारित करने की बात भी इस मीटिंग में हुई है।

मोदी सरकार पहले ही खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश के फैसले ले लिए थेः 'ई कॉमर्स' मेंऔर फूड प्रोसेसिंग के व्यापार में 100% सीधे विदेशी निवेश की छूट। वही बिहार चुनाव के परिणामों के शोरगुल के बीच, 12 नवम्बर 15 कोः सैन्य समान, भवन निर्माण जैसे 15 क्षेत्रों में 49इ सीधे विदेशी निवेश की छूट के साथ- साथ, निजी बैंकों के लिए इस छूट को 75% कर दिया गया। इन फैसलों से खुदरा व्यापार के साथ-साथ बैंको की पूंजी पर भी विदेशी पूंजी का कब्जा हो जाएगा।

फ़ूड प्रोसेसिंग का धंदा लगभग 7 से 8 लाख करोड़ का है। वहीं, ई-कॉमर्स का धंदा, जो 2009 में 23 हजार करोड़ रुपए का था, वो 2016 में 2 लाख 35 हजार करोड़ रुपए तक जा पहुंचा है – 2020 तक, इसके 6 लाख करोड़ रुपए से उपर पहुचने की उम्मीद है। सोने के आभूषणों के कुल 2.5 लाख करोड़ रुपए के धंदे में से अभी 36 हजार करोड़ ई-कॉमर्स के जरिए होता है – जो कुछ सालों में 1.5 लाख करोड़ रुपए तक पहुँच जाएगा।वैसे भी, 2008 में, देश में खुदरा ज्वेलरी का 10% व्यापार संगठित छेत्र में था; जो पहले ही सरकार की नीतियों के चलते 2014 में बढ़कर 22% हो गया है।

चीन की अलीबाबा अमेरिका की अमेज़ान यह कुछ नहीं बनाती, लेकिन यह सबसे बड़ी खुदरा व्यापार करने वाली कंपनिया है। अकेले अलीबाबा ई-कॉमर्स कंपनी की वेबसाइट पर 12 लाख विक्रेता रजिस्टर्ड है। वही वालमार्ट दुनिया की सबसे बड़ी रिटेल स्टोर की श्रृंखला है –अकेले अमेरिका में 21.5% खुदरा व्यापार पर उसका कब्जा है। खुदरा व्यापरियों पर शिंकजा और विदेशी पूंजी को 100% छूट से देश में हर तरह के खुदरा व्यापार पर एक बड़ा संकट आ जाएगा।

कालाधन और कर चोरी

नोटबंदी के दौरान किए गए सारे दावे खोकले साबित हुए; इस सारी कयावाद के बाद कितना धन बैंको में आया यह रिज़र्व बैंक के गवर्नर संसदीय समीति को अभी-तक नहीं बता पाए। इसमें कालाधन कितना है, यह बताना तो दूर की बात है।

अन्तराष्ट्रीय संस्था, ग्लोबल फाइनेंसियल इंट्रीगिटी की 2008 की भारत के कालेधन पर एक रिपोर्ट के अनुसार 72% कालाधन विदेश में है; सिर्फ 28% भारत में है, इसमें भी कितना नगदी यह एक बड़ा सवाल है। संस्था का कहना हैः यह जो कालाधन विदेश जाता है, उसका एक सीधा तरीका है - वहां से आयात किए जाने वाली वस्तु की ओवर इन्वोसिंग। इस बारे में सरकार ने अभी-तक कुछ नहीं किया है। उल्टा डायरेक्टर ऑफ रेवन्यू इंटेलीजेन्स देश की पॉवर कंपनी पर कोयले के आयात में ओवर इन्वोसिंग के जरिए जो 29 हजार करोड़ रुपए के घोटाले का आरोप लगाया है उसमें कुछ नहीं किया। इसके आलावा सरकार ने वित्त मंत्रालय की 2013 की एक रिपोर्ट में यह बताया है कि कैसे डायमंड के धंधे में काले पैसे को सफ़ेद बनाने और आतंकवाद को फंड करने का काम हो रहा है; इस रिपोर्ट पर भी कोई कार्यवाही नहीं की।

नगदी भुगतान से कालाधन पैदा होता है और ऑनलाइन या बैंकिंग भुगतान से नहीं, ऐसा कोई ठोस प्रमाण ना तो अब-तक भारत में मिला है, और ना ही दुनिया की किसी और अर्थव्यवस्था में। अगर हम अमेरिका के हालात देखे, तो वहां हाल ही मैं राष्ट्रपति बने डोनाल्ड ट्रम्प पर 1995 में गलत तरीके से 6 हजार करोड़ का घाटा दिखा पिछले 20 सालों से कोई टैक्स नहीं भरने का आरोप है। अमेरिका के आन्तरिक राजस्व विभाग की रिपोर्ट के अनुसार वहां हर साल 30 लाख करोड़ रुपए की कर चोरी होती है। अमेरिका और यूरोपियन युनियन में कर चोरी का

आरोप एप्पल से रूपए लेकर गूगल तक सभी बड़े कॉर्पोरेट पर है। वालमार्ट का मालिक -दुनिया का तीसरा सबसे धनी व्यक्ति, बारेन बफेट सालाना सिर्फ 12 करोड़ रुपए व्यक्तिगत कर भरता है।

वहीं जी एस टी में भी सवाल टैक्स की दर बढ़ने या घटने का का नहीं है। वो तो होता रहता है और कर तो जनता को देना है; चाहे जो दर हो। लेकिन, इसमें एक तो छोटे व्यापरियों को माल महंगा मिलेगा। दूसरा, व्यापार उलझन भरा बन जाएगाः जी एस टी में हर बात के लिए बड़ी लम्बी कागजी कार्यवाही और वो भी ऑनलाइन करना है;इससे ओवरहेड बढ़ जाएंगे, गलती होने पर जुर्माने और सजा का डर अलग। सरकार भले ही कहे कि वो इंस्पेक्टर राज खत्म कर रही है; लेकिन ऑनलाइन निगरानी के आलावा, आने वाले समय में केंद्र सरकार जो 2 लाख लोगों की भर्ती करने वाली है, उसमें 75 हजार की भर्ती टेक्स विभाग में होगी।। इस सबके चलते धीरे-धीरे आम-व्यापारी के लिए व्यापार घाटे का सौदा बन जाएगा।

आगे का रास्ता

इस बात में कोई शक नहीं है कि भारत में आर्थिक सुधार अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के ईशारे पर लाए जा रहे है। आज हम चाइना के माल का रोना रो रहे है, लेकिन जब 25 से 30 दिसम्बर 1999 के दरम्यान पूरे देश का ध्यान कंधार हवाई-जहाज आपरहण में उलझा था, तब अटल बिहारी बाजपेयीजी की सरकार ने अमेरिका के दबाव में 28 दिसम्बर 1999 को एक समझौता किया था। जिसके अनुसारः भारत को 1 अप्रेल 2000 तक 714 वस्तुओं और 1 अप्रेल 2001 तक 2015 तक 715 वस्तुओं से 'मात्रात्मक' प्रतिबन्ध हटाना था; इस निर्णय के बाद से, लिस्ट में दिए गए 1429 उत्पाद आसानी से कितनी भी मात्रा में भारत में आयात किया जा सकता था। इस फैसले से देश के छोटे-छोटे उत्पादक खत्म हो गए – देश चीन के माल से पट गया। खुदरा व्यापारियों को इससे फर्क नहीं पड़ा- उन्होंने देशी की जगह चाईना का माल बेचा। लेकिन, अब मार खुदरा व्यापारियों पर पड़ने वाली है।

एफ डी. आई, डिजीटल पेमेंट और जी एस टी उसी सुधार का हिस्सा है। नोटबंदी और जी एस टी से जहाँ भारतीय व्यापार के चलते चक्के को अचानक जाम कर दिया है; वहीं, देशी कॉर्पोरेट और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के व्यापार को सुगम और भारतीय व्यापरियों की तुलना में प्रतिस्पर्धा में बेहतर बनाया है। और आर्थिक सुधार की जोर मार अभी-तक किसान झेल रहे थे, उसकी मार अब व्यापरियों पर पड़ने वाली है; व्यापार कॉर्पोरेट हाथों में जाने का खतरा पैदा हो गया है।

अगर हमें व्यापार में आ रहे इन आर्थिक सुधारों के प्रभाव को समझना है तो किसानों के हालात पर नजर डालें। हमें समझ आएगा कि 1990 के दशक में आर्थिक सुधार के नाम पर जो नीतिगत बदलाव किए गए उसके बाद से अब-तक तीन लाख से ज्यादा किसान आत्महत्या करने को मजबूर हुए है। भारत जैसे कृषी प्रधान देश में यह हो सकता है , यह कल्पना किस ने की थी। इन आर्थिक सुधारों के 20 साल बाद, आज पूरे देश में किसानों का गुस्सा फूटा हुआ है। फसल की कीमतों और लोन माफी के लिए आन्दोलन हो रहे है – किसान गहरे कर्जे में है। उसकी खेती कॉर्पोरेट हाथों में जाने का खतरा पैदा हो गया है।

व्यापारी अभी-तक इस मुगालते में रहा कि भाजप उसकी अपनी पार्टी है। और इस बात में कोई दो राय नहीं है कि देश का वैश्य समाज गौ-रक्षा से लेकर विश्व हिन्दू परिषद, संघ परिवार तथा भाजप के हिन्दू धर्म को बढ़ावा देने के कार्यक्रम की आर्थिक रीढ़ की हड्डी रहा है। वो इस भ्रम में रहा कि वो धर्म की रक्षा में साथ है। लेकिन, हिन्दू धर्म को बढाने और उसके प्रचार प्रसार का यह कार्यक्रम धीरे-धीरे राजनीति का खेल बन गया और इस पर साम्प्रदायिक का रंग चढ़ गया; धीरे-धीरे गौ रक्षा, मानव हत्या में बदल गई। वहीं, नोटबंदी और जी एस टी के साथ साम्प्रदायिकता की धुंद खडी कर उसके पीछे देश के करोड़ों व्यापारियों को मिटाकर देश की अर्थ-व्यवस्था के कॉर्पोरेटीकरण की साजिश चल पड़ी;जैसे कृत्रिम धुंए की दीवार खडी कर उसके पीछे से दुश्मन सेना हमला करती है।

मैं पैदाईश से वैश्य हूँ, मगर कर्म से समाजवादी सोच का राजनैतिक-सामाजिक कार्यकर्त्ता होने के नाते पिछले 30 सालों से पूंजीवाद के खिलाफ मेहनतकशो की लड़ाई का सक्रिय हिस्सा रहा हूँ। और देश में समाजवाद आए इसका घोर पक्षधर हूँ। लेकिन, आज जब देश पर कॉर्पोरेटीकरण का संकट अपने चरम पर है और वो अलग-अलग सबको निगल रहा है। तब मुझे लगता है कि वैश्य समाज और मेंहनतकशों -किसानो, मजदूरों को साथ आना होगा। औरअपनी-अपनी पार्टी पर दबाव बनाना होगा, जिससे से इन आर्थिक सुधारों को और तेजी से लागू करने की बजाए, उसपर पुनर्विचार हो। और आर्थिक सुधार का एजेंडा जनता तय करे।वर्ना कॉर्पोरेटीकरण का यह दैत्य सबको नील जाएगा।

●

जिंदा कौमें पांच साल इंतजार नहीं करतीं

अरुण कुमार त्रिपाठी

गैर कांग्रेसवाद के जनक और समाजवादी चिंतक डा राम मनोहर लोहिया का यह कथन आज की सरकारों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है जितना 1960 के दशक में जवाहर लाल नेहरू और इंदिरा गांधी की सरकारों के लिए था। लोहिया युग पुरुष थे और ऐसे लोगों का चिंतन किसी एक काल और स्थान के लिए नहीं हर युग और पूरी मानवता के लिए प्रासंगिक होता है। उनकी व्याख्या भी शाब्दिक नहीं भावार्थ के साथ होनी चाहिए। इसलिए अगर उन्होंने उस समय की कांग्रेस पार्टी का एकाधिकार समाप्त करने और उसके कारण समाज में फैल रही बुराइयों को खत्म करने के लिए गैर- कांग्रेसवाद का आह्वान किया था तो आज अगर वे होते तो निश्चित तौर पर गैर- भाजपावाद का आह्वान करते। दुर्भाग्य की बात यही है उनके तमाम शिष्य या अनुयायी उनके विचारों की ठस व्याख्या करते हैं या फिर उनकी राह पर चलने का साहस नहीं जुटा पाते।

भारत छोड़ो आंदोलन की पचहत्तरवीं सालगिरह और उनकी पचासवीं पुण्य तिथि पर उन्हें स्मरण करने का सबसे बड़ा प्रयोजन यही होना चाहिए कि उनके चिंतन, साहस, कल्पनाशीलता और रणकौशल को आज के संदर्भ में कैसे लागू किया जाए। डा राम मनोहर लोहिया के संपूर्ण राजनीतिक जीवन का संदेश यही है कि व्यक्ति और समाज की स्वतंत्रता और तरक्की के लिए विवेकपूर्ण संघर्ष और रचना। उन्होंने उन्नीस सौ तिरसठ के उपचुनाव में लोकसभा पहुंच कर जब धूम मचा दी थी तो उनके साथ संख्या बल नहीं था। उनका साथ देने के लिए पार्टी के कुल जमा दो और सांसद थे। किशन पटनायक और मनीराम बागड़ी। लेकिन जिसके पास नैतिक बल होता है उसे संख्या बल की चिंता नहीं रहती। लोहिया ने तीन आने बनाम पंद्रह आने की बहस के माध्यम से पंडित जवाहर लाल नेहरू जैसे शक्तिशाली और विव्दान प्रधानमंत्री को निरुत्तर कर दिया था और उनकी बात का जवाब देने के लिए योजना आयोग के उपाध्यक्ष महलोनबीस समेत कई अर्थशास्त्रियों को लगना पड़ा था। डा लोहिया अपने इस दावे को वापस लेने को तैयार नहीं थे कि किस तरह इस देश का आम आदमी आमदनी तीन आने रोज पर गुजर करता है। जबकि प्रधानमंत्री के कुत्ते पर तीन आने रोज खर्च होता है और प्रधानमंत्री पर रोजाना पच्चीस हजार रुपए खर्च होता है। सरकार दावा कर रही थी कि आम आदमी का खर्च तीन आने नहीं पंद्रह आने है। डा लोहिया का कहना था कि अगर सरकार मेरे आंकड़ों को गलत साबित कर दे तो मैं सदन छोड़कर चला जाऊंगा। इस दौरान नेहरू जी से उनकी काफी नोंकझोंक हुई और पंडित नेहरू ने कहा कि डा लोहिया का दिमाग सड़ गया है। इस पर उन्होंने उनसे माफी मांगने की अपील की। यहां सवाल कांग्रेस या पंडित जवाहर लाल नेहरू को चुनौती देने का नहीं सवाल व्यवस्था को चुनौती देने का है और लोहिया में उसका अदम्य साहस था। ऐसा इसलिए भी था कि वे साधारण व्यक्ति की तरह रहते थे और उनकी कोई निजी संपत्ति थी ही नहीं।

एक बार जब डा. लोहिया से किसी ने यह सवाल किया कि उनके भीतर जवाहर लाल नेहरू के प्रति ऐसा रोष क्यों है तो उनका कहना था कि उनका उनसे निजी कोई राग व्देष नहीं है। वे उनकी उतनी ही इज्जत अभी भी करते हैं जितनी पहले करते थे। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि वे उनके शिष्य भी रहे हैं। लेकिन यह सारा विरोध वे सिद्धांत के लिए कर रहे हैं और देश में मरे हुए विपक्ष को खड़ा करने के लिए कर रहे हैं। वे जानते थे कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस एक चट्टान की तरह से है इसीलिए उससे टकराना ही होगा तभी उसमें दरार पड़ेगी।

डा लोहिया का यह साहस उनके पूरे जीवन मे दिखाई पड़ता है। चाहे जर्मनी में पढ़ाई के दौरान लीग आफ नेशन्स में भारत के प्रतिनिधि बनकर बीकानेर रियासत के राजा गंगा सिंह के भाषण के दौरान विरोध प्रदर्शन का मामला हो या भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान भूमिगत जीवन और लाहौर किले की जेल में कठिन यातना सहने का सवाल हो या गोवा मुक्ति के लिए वहां की जेल में कष्ट सहने का सवाल हो, लोहिया की निर्भीकता किसी भी निराश हताश कौम में बिजली की तरह हिम्मत पैदा करने की क्षमता रखती थी। उन्होंने बयालीस के भारत छोड़ो आंदोलन में न सिर्फ नेपाल में जयप्रकाश नारायण के साथ सशस्त्र शिविरों का आयोजन किया बल्कि पकड़े जाने पर थाने से छूट कर भाग भी

निकले। डा लोहिया ने बंबई में भूमिगत रेडियो का संचालन किया और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सभी नेताओं की गिरफ्तारी हो जाने के बाद कांग्रेस की तरफ से वे जनता को निर्देश देते थे कि कैसे आंदोलन का संचालन किया जाए और क्या कार्यक्रम लिए जाएं। गिरफ्तारी के बाद उन्हें लाहौर किले की जेल में उसी कोठरी में रखा गया जिसमें सरदार भगत सिंह को रखा गया था। उसी किले में बंद जयप्रकाश नारायण को भीषण यातना दी जा रही थी तो दूसरी तरफ लोहिया को। उन्हें बर्फ की सिल्लियों पर नंगा करके लिटाया जाता था और कई दिन रात जगाकर रखा जाता था। इससे उनकी आंखें खराब हो गईं और दांत वगैरह भी क्षतिग्रस्त हुए। डा लोहिया बताते हैं कि उन्होंने मृत्यु के समान इस यातना को योग और आत्मबल के सहारे सहा। यहां एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि डा लोहिया गांधी के नेतृत्व को स्वीकार करने के बावजूद भगत सिंह के प्रति असाधारण सम्मान रखते थे। संयोग से जिस 23 मार्च को भगत सिंह को फांसी हुई उसी दिन डा लोहिया का जन्मदिन पड़ता था। इसी कारण डा लोहिया अपना जन्मदिन नहीं मनाते थे।

लेकिन लाहौर जेल से छूटने के बाद वे खामोश नहीं बैठे। वे गोवा मुक्ति के संग्राम में लग गए और आश्चर्य की बात यह है कि गोवा मुक्ति के संग्राम में उनके साथ न तो नेहरू थे और न ही पटेल। सिर्फ गांधी जी उनके साथ थे। उन्होंने गोवा के पुर्तगाली शासन का अत्याचार उन्होंने झेला लेकिन जनता को मुक्ति आंदोलन के लिए खड़ा कर दिया।

समाज को बदलने और समता व समृद्धि पर आधारित समाज निर्मित करने के लिए लोहिया निरंतर संघर्षशील रहे और अगर गुलाम भारत में अंग्रेजों ने उन्हें एक दर्जन बार गिरफ्तार किया तो आजाद भारत की सरकार ने उन्हें उससे भी ज्यादा बार। अन्याय चाहे जर्मनी में हो, अमेरिका में हो या नेपाल में उनके रक्त में उसे सहने की फितरत नहीं थी। वे पूरे साहस के साथ उसका प्रतिकार करते थे फिर कीमत चाहे जो चुकानी पड़े। वे कीमत की परवाह नहीं करते थे और अकेले ही बड़ी से बड़ी ताकतों से टकरा जाते थे। लेकिन उनका संघर्ष सिर्फ टकराने के लिए नहीं बल्कि नई रचना करने और उनका व्याख्यान नया विमर्श खड़ा करने के लिए होता था। इसीलिए उन्होंने अपने साथियों को राजनीति के लिए जेल, फावड़ा और वोट जैसे प्रतीक दिए थे। इसमें जेल संघर्ष का प्रतीक थी तो फावड़ा रचना और वोट लोकतांत्रिक तरीके से सत्ता परिवर्तन का।

डा लोहिया किसानों और मजदूरों से तो प्रेम करते ही थे लेकिन युवाओं से उनको विशेष अनुराग था। उन्होंने 1960 के दशक के आरंभ(संभवतः 1964) में समाजवादी युवजन सभा के नेता ब्रजभूषण तिवारी को एक पत्र लिखा था जो देश के युवाओं के नाम संबोधित था। इस पत्र में उन्होंने 'परमार्थिक अनुशासनहीनता' शब्द का प्रयोग किया था और इस सिद्धांत के माध्यम से वे युवाओं का आह्वान करना चाहते थे कि जहां भी जरूरत पड़े वे सरकार के कानूनों को मानने से इनकार कर दें। अन्यायपूर्ण कानूनों और सरकारी आदेशों का यही प्रतिकार गांधी के चंपारण सत्याग्रह में दिखाई पड़ता है तो जयप्रकाश नारायण की संपूर्ण क्रांति के आह्वान में।

आज लोहिया के तमाम शिष्यों के पतन और जातिवादी राजनीति की चर्चा करते हुए या तो लोहिया के सिद्धांत को खारिज किया जाता है या गैर कांग्रेसवादी राजनीति के कारण उन्हें फासीवाद का समर्थक बता दिया जाता है। कुछ लोग तो डा लोहिया के जर्मनी प्रवास के दौरान उन पर नाजियों के सम्मेलन में जाने का आरोप भी लगाते हैं। लेकिन ऐसा वे लोग करते हैं जो न तो लोहिया के विचारों से अच्छी तरह वाकिफ हैं और न ही उनकी राजनीतिक बेचैनी से। लोहिया स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि वे न तो मार्क्सवादी हैं और न ही मार्क्सविरोधी। उन्हें मार्क्स से प्रेरणा पाने लायक बहुत सारी बातें लगती हैं और उनसे मतभेद भी हैं। इसी तरह वे गांधी के समर्थक होते हुए भी पूरी तरह से अपने को गांधीवादी नहीं कहते। वे गांधी के सत्याग्रह के सिद्धांत से तो सहमत हैं और अहिंसा के पक्ष में हैं। लेकिन वे अनशन करने के पक्षधर नहीं हैं। हालांकि महात्मा गांधी को वे समाजवादी नहीं मानते लेकिन उनके रास्ते को समाजवाद लाने के लिए अपनाने के हिमायती हैं।

महात्मा गांधी के बारे में डा लोहिया का यह कथन बेहद प्रासंगिक है कि बीसवीं सदी की बड़ी खोजें हैं एक महात्मा गांधी और दूसरा एटम बम। सदी के आखिर में एक ही जीतेगा। वे राजनीति को हिंसा और अनैतिकता से मुक्त करने के पक्ष में है इसलिए धर्म के मूल्यों को राजनीति को संवारने के विरुद्ध नहीं हैं। ऐसा गांधी ने किया भी था। इस अंतर्संबंध की एक बेहद कल्पनाशील व्याख्या करते हुए डा लोहिया कहते हैं ---

–धर्म और राजनीति का रिश्ता बिगड़ गया है। धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म। धर्म श्रेयस की उपलब्धि का प्रयत्न करता है और राजनीति बुराई से लड़ती है। हम आज दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में हैं जिसमें बुराई से विरोध की लड़ाई में धर्म का कोई वास्ता नहीं रह गया है वह निर्जीव हो गया है, जबकि राजनीति अत्यधिक

कलही हो गई और बेकार हो गई है।(भारतमाता धरतीमाता)।

इसीलिए वे धर्म और राजनीति को अलग अलग रखने के हिमायती थे। लेकिन उनकी इस बात को न समझने वाले कह देते हैं कि उनकी सांस्कृतिक नीति जनसंघ के नजदीक थी। डा लोहिया राम, कृष्ण और शिव की जिस तरह से व्याख्या करते हैं संभव है वह बात जनसंघ को अनुकूल लगे। लेकिन डा लोहिया द्रौपदी बनाम सावित्री की जिस तरह से व्याख्या करते हैं वह बात जनसंघ और कट्टर हिंदुओं को कतई अच्छी नहीं लगेगी। वे स्त्री स्वाधीनता के अनन्य उपासक थे और इसीलिए रामचरित मानस की वह पंक्ति उन्हें बहुत प्रिय थी जिसमें कहा गया था कि ----कत विधि सृजी नारि जग माहीं पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।

इसीलिए उनके लिए पांच पतियों की पत्नी और प्रश्नाकुल और बड़े से बड़े से शास्त्रार्थ करने वाली द्रौपदी आदर्श नारी थी न कि पति के हर आदेश का पालन करने वाली सावित्री या सीता। उनकी नजर में भारत गुलाम ही इसीलिए हुआ क्योंकि यहां का समाज जाति और यौनि के कटघरे में फंसा हुआ था।

यही कारण है कि डा लोहिया जाति व्यवस्था को तोड़ने और स्त्रियों को आजाद करने की बात करते हैं। उनके लिए वर्ण, स्त्री, संपत्ति और सहनशीलता के सवालों को हल किए बिना इस देश का कल्याण नहीं है। अपने हिंदू बनाम हिंदू वाले प्रसिद्ध व्याख्यान में वे कहते भी हैं कि यह लड़ाई पांच हजार साल से चल रही है और अभी तक खत्म नहीं हुई है। वे देखते हैं कि दुनिया के अन्य देशों में खून खराबे के साथ यह लड़ाई खत्म हो गई लेकिन भारत में कई मत हो गए और पूरी तरह से कुछ भी खत्म नहीं हुआ। लेकिन वे सबसे बड़ा खतरा कट्टरता को मानते हैं और कहते हैं कि अगर कट्टरता बढ़ेगी तो न सिर्फ यह स्त्रियों और शूद्रों और अछूतों और आदिवासियों के लिए खतरा पैदा करेगी बल्कि इससे अल्पसंख्यकों के साथ भी रिश्ते बिगडेंगे।

यही वजह है कि वे भारत की जाति व्यवस्था को हर कीमत पर तोड़ने के हिमायती थे। वे इसके लिए डा आंबेडकर से हाथ मिला रहे थे लेकिन दुर्भाग्य से बाबा साहेब का 1956 में निधन हो गया। वे दक्षिण में रामास्वामी नाइकर से से उस समय मिलने गए जब आंदोलन के दौरान वे गिरफ्तार थे और अस्पताल में थे। भारत की जाति व्यवस्था को खत्म करने के लिए उन्होंने ब्राह्मण बनिया राजनीति की कड़ी आलोचना की तो उन शूद्र जातियों की भी आलोचना की जो आगे बढ़ने के बाद ऊंची जातियों की ही नकल करने लगती हैं।शूद्रों की राजनीति को बढ़ावा देने पर डा लोहिया की आलोचना करने वालों को यह समझना चाहिए कि उन्होंने उन तमाम कमियों की ओर बहुत पहले सचेत किया था जो शूद्र जातियों के शासन में आ सकती हैं। आज के दौर में मंडल राजनीति से निकले जातिवादी और सांप्रदायिक राजनेताओं के व्यक्तियों में उनकी चेतावनी की छाया देखी जा सकती है।

डा लोहिया के संदर्भ में एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि उन्होंने जाति तोड़ो के लिए न तो जलन की राजनीति का समर्थन किया था और न ही सत्ता पाने के लिए चापलूसी की राजनीति की। वे आंबेडकर की राजनीति को जलन की राजनीति बताते हैं तो जगजीवन राम की राजनीति को सत्ता के लिए झुकने वाली राजनीति। लेकिन जाति विमर्श में डा लोहिया यह मानने को तैयार नहीं हैं कि अंग्रेजों की गुलामी अच्छी थी और इससे जातियां कमजोर हुई हैं। वे आंबेडकर और फुले से अलग अंग्रेजों की गुलामी को भारत के सांप्रदायिक और जातिगत विभाजन के लिए पूरा दोष देते हैं और उससे लड़ने के लिए आह्वान करते हैं। एक तरह से डा लोहिया गांधी और आंबेडकर के बीच सेतु हैं। वे स्वाधीनता संग्राम को भी उतना ही जरूरी मानते हैं जितना जाति व्यवस्था के विरुद्ध संग्राम। वे देशभक्त तो हैं ही सामाजिक न्याय के भी जबरदस्त समर्थक। यहां यह भी नहीं भूलना चाहिए कि डा लोहिया जातियों को तोड़ने का आह्वान करने के बाद वर्ग संघर्ष की बात भी करते हैं और चाहते हैं कि आखिर में वर्ग विहीन समाज का निर्माण हो। वे यह भी चाहते हैं कि मनुष्य इतिहास के उत्थान और पतन के चक्र से मुक्त हो और एक विश्व सरकार का गठन करके दुनिया में जाति, लिंग, राष्ट्र की गैर बराबरी मिटाकर लोकतंत्र कायम किया जाए।

आज जरूरत डा लोहिया के रस्मी स्मरण की नहीं उनके विचारों की रोशनी में नई लोकतांत्रिक राजनीति को गढ़ने की है। वह राजनीति सशक्त विपक्ष के बिना नहीं हो सकती। 'लोहिया के न रहने पर' कविता में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना लिखते हैः—

खाली पेट पर
जो रखकर चिराग
तैराते जा रहे हैं
अपने ऐश्वर्य के सरोवर में
बुझती आंखों के बंदनवार
सजाते जा रहे हैं संसद और विधानसभाओं के व्दार
उनको गया है वह समूल झकझोर
ओ मेरे देशवासियों एक चिनगारी और

●

लोहिया में खास क्या है

राजकिशोर

डॉ. राममनोहर लोहिया का एक बहुचर्चित व्याख्यान है – राम, कृष्ण और शिव। इसके अंत में वे कहते हैं : हे भारत माता, हमें शिव का मस्तिष्क, कृष्ण का हृदय और राम का कर्म और वचन दो। इन तीन चीजों में, जिन्के बारे में लोहिया कहते हैं कि इसके कोई खास मतलब नहीं होंगे कि वे देवता थे या आदमी, एक तनाव है। राम में मर्यादा का बोध है, लेकिन वे कृष्ण की तरह रोमांटिक नहीं हैं, कृष्ण धर्म की रक्षा के लिए मर्यादाओं और नियमों को भूलने में उस्ताद हैं और शिव जहाँ हैं वहाँ अनंत का विस्तार है। इन तीनों के बीच संगति बैठाना कठिन है। यही कारण है कि राम के उपासकों को कृष्ण नहीं भाते, कृष्ण के प्रेमियों को राम बहुत रूखे लगते हैं और जिनका हृदय शिव में रम गया है, उन्हें राम और कृष्ण तो क्या, कोई भी देवता नहीं जँचते। लेकिन लोहिया भारत माता से जो प्रार्थना करते हैं, उसमें इन तीनों के प्रति एक जैसा उत्कट लगाव है। मजे की बात यह है कि जब लोहिया इन तीनों को पूर्णता के विभिन्न परिप्रेश्क्ष्यों में रखते हैं, तो उनके बीच का सारा तनाव घुल जाता है और वे एक ही पूर्ण पुरुष के तीन अलग-अलग चेहरे दिखाई पड़ने लगते हैं।

आज राष्ट्रवाद को एक घृणित बीमारी कहने का चलन बढ़ रहा है, क्योंकि राष्ट्र को एक खास समुदाय और उसके भी एक खास हिस्से के पूर्वाग्रहों का पर्याय बना दिया गया है। लेकिन लोहिया प्रचंड राष्ट्रवादी थे। मजे की बात यह है कि जो अपने को सब से ज्यादा अंतरराष्ट्रीयतावादी मानते थे, उनमें अब संकीर्ण राष्ट्रवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। भूमंडलीकरण सब से नयी किस्म का विश्ववाद है, जिसने 'दुनिया एक गाँव है' जैसा खूबसूरत जुमला दिया है। लेकिन अब वह भी खतरे में है, क्योंकि कम्युनिस्टों के अंतरराष्ट्रीयतावाद की तर्ज पर उसमें भी राष्ट्रीय भावनाओं के साँस लेने की जगह नहीं है। लेकिन लोहिया विश्ववादी भी थे। इन दोनों को सही ढंग से जोड़ने की कुंजी शायद लोहिया के इस स्वप्न में मिलती है, जिसे उन्होंने 'चौखंभा राज' का नाम दिया था। लोहिया के जीवन काल में 'चौखंभा' नाम से एक साप्ताहिक भी पहले हैदराबाद से, उसके बाद बनारस से निकलता था। मैं समझता हूँ, मनुष्य के सांस्कृतिक भूगोल को समझने की इससे बेहतर दृष्टि कुछ और नहीं हो सकती। मनुष्य अपने गाँव या शहर का भी है, तो उसका एक देश भी है। बीच में जिला और राज्य के मध्यवर्ती पड़ाव भी हैं। इस तरह कोई भी राष्ट्र विभिन्न इकाइयों में बँट कर राष्ट्रीयता के गुण भी बनाये रखता है और उसके दोषों से मुक्त भी हो जाता है। बहुत शरमाते हुए 1989 में भारत में पंचायती राज की स्थापना की गयी, लेकिन आज भी विभिन्न स्तरों की पंचायतें स्वतंत्र और एक-दूसरे से जुड़ी लोकतांत्रिक इकाइयाँ न हो कर राज्य और केंद्र प्रशासन की स्थानीय शाखाएँ ही हैं। यह विकेंद्रीकरण नहीं, उसके नाम पर केंद्रीकरण का विस्तार है।

लेकिन लोहिया की कल्पना में चौखंबा राज के साथ जो एक चीज अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है, वह है विश्व सरकार। लोहिया को इस बात का एहसास था कि आज की दुनिया में सिर्फ राष्ट्रीय सरकारों से मनुष्य की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। लोहिया ने अपने समय में राष्ट्रीय सरकारों का दमनकारी रूप भी देखा था। परमाणु युद्ध के आसार भी रह-रह कर दिखाई देते थे। लेकिन इससे भी कठिन समस्या है विश्व के विभिन्न हिस्सों के असमतल विकास की। बड़ी-बड़ी जमीनों पर छोटी-छोटी आबादियों के कब्जे को लोहिया अंतरराष्ट्रीय जमींदारी कहते थे। इस परिप्रेक्ष्य में विश्व सरकार और विश्व संसद का औचित्य स्वयंसिद्ध था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल और वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन ने विश्व सरकार की स्थापना के लिए अभियान शुरू किया था। भारत में डॉ. लोहिया इसके प्रबल पक्षधर थे। वस्तुतः विश्व सरकार की कल्पना किये बगैर चौखंभा राज का नक्शा पूरा नहीं होता।

क्या यह एक तरह की पूर्णता पाने की कोशिश नहीं थी? मनुष्य स्थानीय भी हो, अपनी संस्कृति में रचा-बसा हो और वह विश्व नागरिक भी हो। लोहिया की मान्यता थी कि मनुष्य को किसी भी देश में जा कर बसने का अधिकार होना चाहिए। जैसे वे राम, कृष्ण और शिव, तीनों को एक साथ आत्मसात करना चाहते थे, वैसे ही उनके लिए माताएँ भी दो थीं – भारत माता और धरती माता। उनका कहना था कि

व्यक्ति जिस देश में भी मरे, उसकी अंतिम क्रिया वहीं कर देनी चाहिए। उसके शव को स्वदेश लाना मन की संकीर्णता का परिचय देना है। दुनिया को समग्र रूप से समझने की कोशिश और उसके अनुसार संगठन तथा कर्तव्य का बँटवारा ही वह चीज है जो लोहिया को खास बनाती है। बीसवीं शताब्दी में कोई दूसरा ऐसा चिंतक दिखाई नहीं देता, जिसने यथार्थ के सभी स्तरों का साक्षात्कार करने का प्रयास किया हो। मार्क्सवाद में यह गुंजाइश थी, लेकिन जिसे विजदेव नारायण साही ने 'मार्क्सवाद की कम्युनिस्ट परिणति' कहा है, उसके कारण उसने अपने चारों तरफ इतने घेरे बना लिये कि असली चीज का आज भी अता-पता नहीं है। इसलिए लोहिया के समाजवाद को मार्क्सवाद का ही एक संस्करण मानने के बजाय हमें उसकी मौलिकताओं को समझना चाहिए, तभी वह भविष्य का दर्शन बन सकता है। और इस मायने में लोहिया का समाजवाद सिर्फ भारत के लिए नहीं है, वह पूरे विश्व के लिए है। बड़े दुख की बात है कि पश्चिम के विचारकों को बड़ी आसानी से विश्व चिंतक मान लिया जाता है और एशिया के विचारकों को स्वयं उनके अपने देश में ही भाव नहीं दिया जाता।

मनुष्य और देवता, देश और दुनिया तथा वर्तमान और शाश्वत के रचनात्मक तनाव भरे रिश्तों की खोज, जो पूर्णता की प्यास का ही दूसरा नाम है, की यह खासियत लोहिया के पूरे जीवन और जीवन दर्शन में दिखाई देती है। इनमें सब से बड़ी चीज है सिद्धांत, कर्म और कार्यक्रम के बीच तारतम्य स्थापित करने की। लोहिया एक क्रांतिकारी थे। उनकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक है : 'क्रांति के लिए संगठन'। लेकिन वे लोकतंत्रवादी भी थे। इन दोनों के बीच तालमेल बैठाने की प्रक्रिया में उन्होंने बहुत-सी ऐसी चीजों को जन्म दिया जिनका भारत की राजनीति में निर्णायक महत्व है। लोहिया के लिए ऐसे सिद्धांतों का कोई विशेष मूल्य न था, जिनसे ठोस कार्यक्रम न निकलते हों। 'वसुधैव कुटुंबकम' जैसा थोथा गाल बजाने से उन्हें नफरत थी। बल्कि कहा तो यह जा सकता है कि लोहिया के अनुसार, कार्यक्रम ही वह आईना है जिसमें सिद्धांत की हकीकत को देखा जा सकता है।

यहाँ भी हमें लोहिया की द्वंद्वात्मक विचार प्रणाली के दर्शन होते हैं। समाजवाद का अर्थ क्या है? लोहिया का जवाब है : समता और संपन्नता। लेकिन समता कब? क्या समाजवादी सरकार बन जाने के बाद? नहीं, अभी, तुरंत। इसके लिए लोहिया ने पूर्ण समता और संभव समता की परिकल्पना की। पूरी समता जब होगी तब होगी या हो सकता है कभी न हो, पर संभव समता तो आज और यहीं संभव है। इसलिए लोहिया ने अंतिम आदमी तक पहुँचने की बात कभी नहीं की, उन्होंने कहा कि किन्हीं भी दो भारतीयों की आमदनी और खर्च के बीच कम से कम विषमता और ज्यादा से ज्यादा संभव समता होनी चाहिए। आज विषमता का अनुपात एक और सौ का है, तो कल यह एक और बीस का होगा, उसके बाद एक और दस का और हो सकता है अंततः एक और एक का हो जाये। जिसके पास समानता हासिल करने का यह कार्यक्रम नहीं है, उसे समाजवादी कहना इस महान शब्द का दुरुपयोग है।

इसी तरह संपन्नता हासिल करने का भी एक ठोस कार्यक्रम होना चाहिए। विकास की उस समय की अवधारणा पर जितनी चोट अकेले लोहिया ने की, उतनी उस समय के सभी प्रगतिशील लोगों ने मिल कर भी नहीं की। विकसित देशों और भारत की प्रति व्यक्ति पूँजी की तुलना करते हुए लोहिया ने एकदम साफ कर दिया कि उनके जैसा उद्योगीकरण प्राप्त करने के न तो साधन हमारे पास हैं और न प्राकृतिक संसाधनों की सीमाओं को देखते हुए यह उचित होगा। लोहिया के लिए संपन्नता का अर्थ अमेरिका जैसी संपन्नता नहीं था, जो एक राक्षसी उपलब्धि है। वे ऐसी संपन्नता के पक्षधर थे, जिसे समता का मूल्य चुकाये बिना हासिल किया जा सकें।

समता और संपन्नता की यह खोज डॉ. लोहिया को भारतीय जीवन के ऐसे कोने-अंतरों की ओर ले जाती है जिनकी तरफ दूसरों की नजर ही नहीं जा सकी। उदाहरण के लिए भाषा और जाति का सवाल। लोहिया के लिए भारत में अंग्रेजी समता और संपन्नता, दोनों के रास्ते में बाधा है। अंग्रेजी भारत के लोगों को दो खानों में बाँटती है : जिनके पास वाणी है और जिनके पास वाणी नहीं है, जो हर स्तर पर निर्णय की प्रक्रिया में हिस्सेदार हैं और जिनका अपनी नियति पर कोई नियंत्रण नहीं है, जिनके पास ज्ञान है और जिनके पास ज्ञान नहीं है। ऐसा अ-सम समाज कभी संपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विकास का संबंध बैलों से नहीं, आदमियों से है, जो किसी परिस्थिति का हिस्सा हो कर ही उसका आनंद ले सकते हैं।

जाति का मामला भी ऐसा ही है। भारत में जाति विषमता का सब से बड़ा स्रोत है। जाति व्यवस्था के कारण ज्ञान का प्रवाह एक शास वर्ग तक अवरुद्ध रहा और बहुजन समाज के स्वाभिमान को कुचल कर रख दिया गया। जाति के कठघरे ने कला-कौशल के विकास में बाधा पैदा की और स्त्री-पुरुषों के जीवन को छोटी-छोटी जेलों में बदल दिया।

जाति व्यवस्था को कैसे तोड़ा जाये? इसका एक सक्षम उपाय है, आरक्षण यानी विशेष अवसर का सिद्धांत यानी सौ में पावें पिछड़े साठ। जब पिछड़े हुए वर्गों को आगे आने का विशेष अवसर मिलेगा, तब किसी हद तक सामाजिक और आर्थिक समानता स्थापित हो सकेगी और समता तथा संपन्नता का स्वप्न पूरा हो सकेगा। जो लोग आरक्षण का विरोध करते हैं, वे वास्तव में समता और संपन्नता का विरोध करते हैं।

हिंदू बनाम हिंदू, देसी-परदेसी और भारत-पाकिस्तान के बीच के द्वंद्वों को स्पष्ट कर राममनोहर लोहिया ने हमारे इकहरे चिंतन को चुनौती दी। यह इस बात का उदाहरण है कि कैसे मित्र में से शत्रु को और शत्रु में से मित्र को छाँटा जा सकता है। जिस तरह पूँजीवाद समाज एक नहीं है, उसमें शोषक और शोषित हैं, वैसे ही हिंदू सभ्यता या भारतीय सभ्यता भी कोई ऐसी इकाई नहीं है जिसमें आंतरिक द्वंद्व न हों। इतिहास की इस द्वंद्वात्मकता को उधेड़ कर लोहिया ने यह समझने में हमारी मदद की है कि हिंदू समाज में आगे देखू और पीछे देखू, दोनों तरह की धाराएँ रही हैं, जैसे बाबर आक्रमणकारी था, पर बाद के मुगल बादशाह भारतीय थे। हिंदुस्तान-पाकिस्तान के झगड़े को लोहिया ने अनुपम ढंग से सुलझाया है, जिसमें दोनों एक विशाल भारत में समाहित हो कर एक-दूसरे की शक्ति बन जाते हैं।

लेकिन 'रामायण मेला' का क्या करें? आज तुलसीदास से ज्यादा प्रतिक्रियावादी कवि कौन है? दलितों के सामने तुलसी का बचाव कैसे किया जा सकता है? क्या लोहिया के भी कमजोर कोने थे? पता नहीं। इतना जरूर मालूम है कि 'रामायण मेला' का विचार आने के पहले वे हैदराबाद में हुसेन से राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान आदि के चित्र बनवा चुके थे। इससे यह अनुमान होता है कि अपनी सांस्कृतिक विरासत से उन्हें कितना प्रेम था और वे काँच को छाँट कर हीरे का आनंद ले सकते थे। वस्तुतः गांधी को बाद लोहिया दूसरे ऐसे नेता थे, जो भारत से इतना प्रेम करते थे। भारत के प्रति गांधी का प्रेम कुछ खास पहलुओं तक सीमित था, लेकिन लोहिया को भारत की हर चीज से लगाव था – इसका इतिहास, वेद-उपनिषद, भाषा, बोलियाँ, पुरातत्व, नदियाँ, पर्वत, रेगिस्तान, गलियाँ, कुंज, बसावट, त्वचा का रंग, मंदिर, लोग, पहनावा, आभूषण, कला, संगीत, वाद्य यंत्र, खजुराहो, कोणार्क, जातियाँ, उपजातियाँ, प्रणय, संन्यास, और यह कोई अंध-प्रेम नहीं था। अच्छे और बुरे का अंतर लोहिया की नजर से कभी ओझल नहीं हुआ। गांधी, नेहरू और लोहिया तीनों ने अलग-अलग ढंग से भारत की खोज की, पर लोहिया की खोज में जैसी पूर्णता और द्वंद्वात्मकता मिलती है, वह एक शब्द में कहें, तो अद्भुत है। मेरी पीढ़ी ने तो भारत को लोहिया के ही माध्यम से जाना। लेकिन पश्चिमी सभ्यता की सड़ाँध और आसन्न विनाश को रेखांकित करते हुए भी लोहिया ने पश्चिम के विचारकों से बहुत कुछ लिया था। शायद इतिहास चक्र की धारणा भी। पश्चिमी सभ्यता से उनको नफरत इसलिए थी कि ऐसी सभ्यता विकसित करने में उसकी रुचि नहीं है, जो विश्व सभ्यता बन सके। मेरा खयाल है, पूर्णता की यह बेचैनी ही ऐसी चीज है जो लोहिया में खास थी। वरना हैं और भी दुनिया में सुखऩ-वर बहुत अच्छे ।

●



"बेशर्म, नालायक, पाजी मर्द ही अपनी औरत के ऊपर हाथ उठाएगा। कोई भला मर्द किसी भी हालत में औरत पर हाथ नहीं उठाएगा।" - डॉ लोहिया

गरीबी उन्मूलन के परिप्रेक्ष्य में जी.एस.टी. एक प्रतिगामी कदम

बलबीर जैन

1 जुलाई 2017 के पूर्व एक तरफ तो केन्द्र सरकार वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क की उगाही करती थी तो दूसरी तरफ राज्य सरकारें उन्हीं वस्तुओं पर वैट (बिक्री कर, खरीद कर आदि) की उगाही करती थी। जीएसटी में केवल एक ही टैक्स का प्रावधान है अतः इस व्यवस्था से एक सरल और सुगम कर प्रणाली की अपेक्षा थी। यही नहीं जीएसटी से वस्तुओं पर लगने वालेकरों के कुल बोझ में भी कमी आने की उम्मीद थी। पिछली व्यवस्था के अन्तर्गत वस्तु करों का औसत बोझ 25 फीसदीसे 30 फीसदी के आसपास था। जीएसटी के अन्तर्गत औसत बोझ में कुछ कमी तो आई है पर कुछ ऐसे प्रावधान भी जोड़े गये जिससे सूक्ष्म कारोबार के वजूद ही खते में हैं। इन में ग्रामीण और घरेलू उद्योग भी शामिल हैं जिनका वजूद खतरे में है।

गरीब परिवारों के हितों को देखते हुए आजादी के बाद से ही ग्रामीण और घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाता रहा है और उन्हें कर प्रणाली के बाहर रखा गया था और कई उत्पादों में उन्हें संरक्षण देने हेतु इन विशेष उत्पादों का बड़े उद्योंगों द्वारा उत्पादन पर निषेधात्मक प्रावधान थे। 1991 के नवउदारवादी सुधारों के साथ संरक्षण की नीति को अलविदा कर दिया गया था; पर करों से उन्हें आकार के कारण छूट पूर्ववत थी। उन्हें उत्पादन शुल्क अथवा वैट देना नहीं पड़ता था। पर 1 जुलाई 2017 से ये छूट काफी हद तक हटा दी गई है। सूक्ष्म कारोबार गैर-पंजीकृत रहकर कार्यरत रह सकते हैं पर पंजीकृत कारोबारी अगर उनसे सामान खरीदते हैं तो उस पर रिवर्स चार्ज मेकैनिज्म द्वारा जीएसटी करों का भारी बोझ लाद दिया गया है और परिणामस्वरूप बहुत से सूक्ष्म कारोबारियों का वजूद ही खतरे में है। एक तरफ जीएसटी के कारण वस्तु करों में गिरावट लाई गई है तो दूसरी तरफ सूक्ष्म कारोबारी क्षेत्र पर नये कर लाद दिये गये हैं। क्या यह प्रतिगामी कदम नहीं है?

सूक्ष्म कारोबारियों पर रिवर्स चार्ज की मार

वैसे तो 20 लाख सालाना से कम कारोबारी को जीएसटी पंजीकरण से छूट प्राप्त है पर उस पर वस्तु करों का बोझ पंजीकृत इकाइयों के मुकाबले ज्यादा ही है। पंजीकृत इकाइयों के लिए के लिए इनपुट टैक्स क्रेडिट की सुविधा उपलब्ध है और इस कारण उन्हें कम टैक्स अदा करना पड़ता है पर गैर-पंजीकृत (सूक्ष्म) इकाइयों के लिए इनपुट टैक्स क्रेडिट की सुविधा उपलब्ध नहीं है और इसके अलावा रिवर्स चार्ज मेकैनिज्म से करों की उगाही की व्यवस्था भी की गई है।

गैर पंजीकृत इकाई से वस्तु कर की उगाही परोक्ष रूप से की जा सकती है। गैर-पंजीकृत इकाई का उत्पाद पंजीकृत इकाई द्वारा खरीदने पर रिवर्स चार्ज के माध्यम से वस्तु कर उगाहा जाता है। मिसाल के लिए बुनकर 'क' एक गैर-पंजीकृत कारोबारी है और वह पचास हजार रुपये की साड़ियाँ एक थोक व्यापारी को बेचता है। थोक व्यापारी का कारोबार पंजीकृत है और वह इस खरीद पर पाँच फीसदी के हिसाब से 2500 रूपये के बराबर रिवर्स चार्ज की उगाही करता है। जाहिर है कि इस रकम की वास्तविक अदायगी बुनकर 'क' ही करता है। परोक्ष रूप से बुनकर 'क' करदाता तो है पर इनपुट टैक्स क्रेडिट का हकदार नहीं है। साड़ी बुनने के लिए धागा वस्तु कर की अदायगी करके ही खरीदा जा सकता है।

मान लीजिए कि साड़ी बुनने के लिए बुनकर 'क' ने 30,000 रुपये का धागा खरीदा था और इस पर 5 फीसदी के हिसाब से 1,500 रुपये के बराबर वस्तुकर अदा किया था अगर बुनकर 'क' पंजीकृत होता तो उसको 1500 रुपये का इनपुट टैक्स क्रेडिट मिल जाता और उसे बकाया रकम अर्थात 1000 रुपये की ही वस्तु कर के तौर पर अदायगी करनी पड़ती। पर गैर-पंजीकृत होने के कारण बुनकर 'क' को वस्तुकर की अदायगी के तौर पर 2500 रुपये देने पड़ते हैं।

जीएसटी के पूर्व 1.5 करोड़ रुपये से ज्यादा सालाना कारोबार होने पर उत्पादन शुल्क के लिए पंजीकरण आवश्यक था। वैट के पंजीरण करने की सीमा कई राज्यों में 20 लाख रुपये थी। इस तरह लघु उद्योग को केन्द्रीय उत्पादन शुल्क से छूट मिली हुई थी और अगर वे कोई उत्पाद बड़े उद्योगों से खरीदते थे तो उस पर अदा किया गया उत्पादन शुल्क उनके लिए लागत के समकक्ष था। दूसरी ओर बड़े उद्योगों को उत्पादन शुल्क अदा करने पर इनपुट

क्रेडिट मिल जाता था। सूक्ष्म कारोबारियों के लिए उत्पादन शुल्क और वैट दोनों लागत के समकक्ष थे। जबकि जीएसटी के अन्तर्गत सूक्ष्म कारोबारियों द्वारा खरीद पर अदा किये गये जीएसटी टैक्स लागत के समकक्ष है और साथ में रिवर्स चार्ज से उनके ऊपर अतिरिक्त बोझ भी लाद दिया गया है।

आखिर ऐसा क्यों किया गया है? ऐसा लगता है कि इसका कारण राजस्व अर्जित करना नहीं है क्योंकि सूक्ष्म कारोबारयों से परोक्ष रूप से उगाहे गये रिवर्स चार्ज से ज्यादा राजस्व हासिल होने की उम्मीद नहीं है। अर्थव्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए सूक्ष्म कारोबारियों को जीएसटी के दायरे में लाया गया है। पर क्या व्यवस्थित अर्थव्यवस्था को व्यापक बनाने के लिए रिवर्स चार्ज का बोझ लादना जरूरी है? बिना असहनीय बोझ डाले इस तरह के लेन-देनों को व्यवस्थित किया जा सकता है। आधार कार्ड के माध्यम से गैर-पंजीकृत इकाइयों के लेन-देन को बखूबी व्यवस्थित किया जा सकता है। पिछले डेढ़ महीने से सूक्ष्म कारोबारी जिस मुश्किल हालात से गुजर रहे हैं उससे निजात दिलाने केलिए इन्हें रिवर्स चार्ज से छूट मिलनी ही चाहिए।

त्रासदी

जीएसटी के बोझ तले लखनऊ का मशहूर चिकनकारी उद्योग त्रस्त है। जीएसटी के पूर्व चिकन के काम पर कोई वस्तु कर नहीं था। अब एक हजार रुपये की बिक्री पर 5 फीसदी और एक हजार से ज्यादा की बिक्री पर 12 फीसदी का प्रावधान है। इससे सभी कारोबारी, कारीगर और मजदूर दुविधा में है। कपड़े की कटाई, छपाई, सिलाई, कढ़ाई, कलफ से पैकेजिंग तक की प्रक्रिया से जुड़े हुए कारीगरों के लिए हिसाब-किताब रखना बहुत ही मुश्किल काम है। उनसे ऐसी उम्मीद भी नहीं की जा सकती। चिकनकारी के उद्योग मुख्यतः घरेलू उद्यमों पर आधारित है। शहर के साढ़े पाँच लाख कारीगरों और मजदूरों के अलावा आस-पास के 70 गाँव के लगभग डेढ़लाख परिवार इसी पर निर्भर हैं। क्या इनसे जीएसटी पंजीकरण के अनुपालन की उम्मीद की जा सकती है? जाहिर है कि जीएसटी के कारण इन सबके रोजगार पर प्रश्नचिन्ह लग गया है।

सूरत में तो जीएसटी का विरोध इसके लागू होने के पहले से ही था। 75000 के आसपास कपड़ा व्यापारियों ने 16 जून, 2017 से ही हड़ताल शुरू कर दी थी और यह हड़ताल 19 जुलाई तक जारी रही और इसे जीएसटी परिषद के आश्वासन के बाद ही कारोबार शुरू किया गया। इस आश्वासन के बाद परिषद ने जाब वर्क पर कर को घटा दिया है। पहले यह 18 फीसदी था और अब यह 5 फीसदी है। पर इससे मामला सुलझा नहीं है। **परेशानी का मुख्य कारण रिवर्स चार्ज है।** शहर के कपड़ा उद्योग में कार्यरत 15 लाख कारीगरों और मजदूरों में ज्यादातर सूत कातने,कपड़ा बुनने, रंगाई इत्यादि काम करते हैं। काम का मुख्य आधार साढ़ छह लाख पावरलूम है जो कि ज्यादार इनफारमल अर्थात सूक्ष्म कारोबार के अन्तर्गत है। ज्यादातर जाब वर्क पर काम होता है जिस पर जीएसटी शुरू में 18 फीसदी था और इस कारण 60 फीसदी पावरलूम एक महीने तक बंद रहे। जीएसटी परिषद ने अगस्त के पहले सप्ताह में इसे घटा कर 5 फीसदी कर दिया है। पर असली समस्या तो रिवर्स चार्ज की है—उत्पादन प्रक्रिया में कई इकाइयाँ जुड़ी हैं और इससे कई स्तरों पर जीएसटी टैक्स की अदायगी का प्रावधान है। गैर-पंजीकृत होने के कारण इनपुट क्रेडिट नहीं मिलने से वास्तविक टैक्स 5 फीसदी से कहीं ज्यादा होगा–यह 15 से बीस फीसदी हो सकता है और इस तरह सूरत का कपड़ा उद्योग संकट में है।

देश के अन्य भागों में इस तरह की समस्या उभर आई है। तमिलनाडु में तिरुपुर में 50,000 परिवार जो सूक्ष्म कारोबार पर निर्भर है— उनके ऊपर भी जीएसटी का प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। कमोवेश इसी प्रकार की स्थिति कई अन्य उद्योगों में भी है। रिवर्स चार्ज का प्रतिकूल प्रभाव बहुत ही व्यापक है। इसका अंदाजा इस मिसाल से लगाया जा सकता है। मान लीजिए भरभूजा 'ख' चुने हुए चने के पैकेट एक व्यापारी को पचास हजार रुपये में बेचता है। इस खरीद पर जीएसटी पंजीकृत व्यापारी 5 फीसदी अर्थात् 2500 रुपया कर जोड़ेगा। और इस तरह यह खरीद भी इनपुट क्रेडिट प्रणाली के बाहर है और इस कारण वह इसके फायदे से वंचित रह जाता है। मान लीजिए मसालों आदि पर उसने 1000रुपये का जीएसटी टैक्स दिया था, उसका उसे खुद ही वहन करना पड़ेगा। अगर गैर पंजीकृत भड़भूजा की जगह एक पंजीकृत भरभूजा होता तो उसे 1000 रुपये के बराबर इनपुट क्रेडिट का फायदा मिलता। जाहिर है कि जीएसटी के अन्तर्गत रिवर्स चार्ज का प्रावधान होने से सूक्ष्म कारोबारियों का प्रतिस्पर्धा में टिके रहना बहुत ही मुश्किल हो जायेगा। इन सूक्ष्म कारोबारियों की संख्या करोड़ में है। दूसरी ओर जीएसटी पंजीकृत कारोबारियों की संख्या लगभग 80 लाख है।

यह स्थिति बहुत अजीब है— एक तरफ तो सरकार जनधन योजना के अन्तर्गत करोड़ों की संख्या में सूक्ष्म कारोबारों की स्थापना के माध्यम से उनके लिए स्व-रोजगार

सृजन का दावा कर रही है तो दूसरी ओर हाल में लागू जीएसटी में रिवर्स चार्ज में मेकैनिज्म का प्रावधान है। इसका सूक्ष्म कारोबारियों पर गहरा निषेधात्मक प्रभाव पड़ रहा है। भारत में सूक्ष्म कारोबारियों की संख्या करोड़ों में है और उनमें बहुत से अपना उत्पाद जीएसटी पंजीकृत कारोबारियों को बेचते हैं। चने भुनने जैसे कारोबार से लेकर पावरलूम से कपड़ा उत्पादन के कारोबारों में वे कार्यरत हैं। रिवर्स चार्ज के कारण ज्यादातर सूक्ष्म इकाइयों का वजूद ही खतरे में है।

लघु और घरेलू उद्योग श्रम प्रधान है उनकी रोजगार सृजन की क्षमता बड़े उद्योगों के मुकाबले बहुत ज्यादा है। 1950 के दशक में बड़े उद्योगों और लघु एवं घरेलू उद्योगों पर रोजगार सृजन सहित विभिन्न आर्थिक पहलुओं पर व्यापक बहस हुई थी, अंततोगत्वा लघु और घरेलू उद्योगों के प्रोत्साहन नीति को अपनाया गया था। 1991 में नवउदारवाद के उत्थान के साथ ही इस नीति में बदलाव आया था। काफी हद तक प्रोत्साहक नीतियों को वापस ले लिया गया था। कुछ वस्तुओं के उत्पादन में बड़े उद्योगों के प्रवेश पर पाबंदी थी। 1991 में इन पाबंदियों को भी हटा दिया गया था। जीएसजीटी तो स्व-रोजगार आधारित अव्यवस्थित क्षेत्र (इनफारमल सेक्टर) पर रिवर्स चार्ज मेकैनिज्म के माध्यम से पेनल्टी (जुर्माना) ही लगा दिया गया है।

गरीब उपभोक्ता पर करों का बोझ

जीएसटी टैक्सों से उगाहे जाने वाले राजस्व का बड़ा हिस्सा आम इस्तेमाल की वस्तुओं पर टैक्सों से आता है। कपड़े, जूते, चीनी, मिट्टी का तेल, कोयला, ईंट, सीमेंट, दवाइयाँ, वनस्पति तेल, फर्टिलाइजर जैसी वस्तुओं से जीएसटी राजस्व का बड़ा हिस्सा आता है। कमोवेश जीएसटी टैक्स बोझ की दृष्टि से प्रतिगामी ही है।

गौरतलब है कि अन्य देशों के मुकाबले भारत में वस्तुकरों की दरें बहुत ज्यादा है। कुछेक विलास की वस्तुओं को छोड़कर जीएसटी का ढाँचा बोझ की दृष्टि से प्रतिगामी है। आयकर वृद्धिपरक है क्योंकि इसका बोझ उच्च आयवर्गों पर ज्यादा होता है। भारत में आयकर की अधिकतम स्लैब मात्र 30 फीसदी है। यूरोप के कई विकसित देशों में यह 50 फीसदी से भी ज्यादा है। अमेरिका में आयकर की अधिकतम स्लैब 39.6 फीसदी है।

भारत का कर ढाँचा ज्यादातर देशों से भिन्न है। वस्तुकर आमतौर पर बोझ की दृष्टि से प्रतिगामी है– ऐसे करों की दरें भारत में अपेक्षाकृत ज्यादा है। दूसरी ओर, आयकर की दरें अपेक्षाकृत कम है। गौरतलब है कि बोझ की दृष्टि से आयकर वृद्धिपरक है। ऐसा क्यों है? क्या भारत नवउदारवाद की प्रयोगशाला बन गया है?

सवाल करों के बोझ तक ही सीमित नहीं है। आम इस्तेमाल की वस्तुओं पर करों से मुद्रास्फीति भी बढ़ती है। इन करों के बराबर राजस्व को आयकर की उच्चतम स्लैब बढ़ाने से अर्जित किया जा सकता है। इसका अत्यधिक आय वाले कुछ हजार परिवारों पर पड़ेगा और वे इसका बोझ बखूबी वहन कर सकते हैं। आम इस्तेमाल की वस्तुओं को करमुक्त करने से करोड़ों गरीब परिवारों को असहनीय बोझ से निजात मिल सकती है। यही नहीं उत्पादक के रूप में सूक्ष्म कारोबार को रिवर्स चार्ज मेकैनिज्म से भी छूट आवश्यक है। इसके बिना उनकी आर्थिक स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। ●

'सामयिक वार्ता' के पाठकों से

'सामयिक वार्ता' का प्रकाशन 1977 से शुरु हुआ । भारत के वैचारिक जगत में दखल देने का माध्यम यह पत्रिका अभी तक बनी हुई है। वैचारिक कलेवर और तेवर बरकरार रखने के बावजूद इसका सामयिक बने रहना भी इष्ट है। यह हमारी कमजोरी है कि पत्रिका को समय से निकालने में हम निष्फल रहे हैं।इस कमी के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। इस बाबत यह तय किया गया है कि यह अंक अक्टूबर 2017 के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। ग्राहकों को हमारी इस कमी का ख़ामियाजा भुगतना नहीं पड़ेगा।जनवरी 2017 के बाद तथा अक्टूबर 2017 के बीच जिनकी सदस्यता समाप्त हुई होगी उन्हें अतिरिक्त मिलेंगे।

इटारसी से प्रकाशित होना बंद किए जाने के बाद यह तेरहवां अंक है। 'सामयिक वार्ता' जैसी पत्रिका के लिए यह जरूरी है कि इसे छापने का मुख्य आधार पाठकों से प्राप्त सदस्यता शुल्क हो।'सामयिक वार्ता' के नाम बैंक खाता है तथा सदस्यता शुल्क इस खाते में किसी भी बैंक से जमा किया जा सकता है।यह भी जरूरी है कि ग्राहकी जमा करते ही नाम-पते का विवरण बनारस एस.एम.एस अथवा ईमेल से भेज दिया जाए। इसके साथ ही यह उम्मीद की जाती है कि प्रतिबद्ध साथी अपने इलाके तथा जहां वे दौरा करते हैं 'सामयिक वार्ता' की ग्राहकी बनायें तथा पुराने ग्राहकों का नवीकरण करायें।

संपादक मंडल

पूर्ण-कौशल का मार्गः इतिहास-चक्र के अनुभव

डॉ. महेश विक्रम

अपने समकालीनों और बाद की पीढ़ी के भी ज़्यादातर लोगों के लिए डॉ. राम मनोहर लोहिया एक राजनीतिक नेता और चिन्तक से ज़्यादा शायद कुछ और न रहे हों। बहुत कम ही लोगों ने उन्हें एक उच्चस्तरीय दार्शनिक और समाज-वैज्ञानिक के रूप में जाना होगा जैसा कि 'इतिहास-चक्र' के नाम से हुए उनके उद्बोधन और उसके प्रकाशन से प्रकट हुआ (व्हील ऑव हिस्ट्री, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, पब्लिकेशन डिपार्टमेंट, हैदराबाद, प्रथम प्रकाशित 1055, पुनर्तद्रित 1974)। और भी कम लोग यह समझ पाये होंगे कि उनके सभी राजनीतिक कृत्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में मानव सभ्यता की प्रगति अर्थात् इतिहास की उनकी समझ से गहराई से प्रेरित रहे होंगे। उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष की समालोचना करते हुए राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर रामकृष्ण मणि त्रिपाठी ने लिखा है, ''मार्क्स और लोहिया ने हतिहास को जैसे समझा वह अपने वर्तमान को भूत के सन्दर्भ में समझने का एक सुविचारित प्रयास कहा जा सकता है। यही कारण है कि इतिहास के इस प्रकार के अध्ययन कई समस्यायों और अन्तर्विरोधों से भी ग्रस्त दिखाई देते हैं। यहां तक कि कुछ लोगों ने इस प्रकार के इतिहास लेखन को राजनीति को दूसरे तरीके से खेलने के एक उपक्रम के रूप में भी देखना चाहा है। सूक्ष्मता से अगर देखा जाए तो कोई यह आग्रह रख सकता है कि इस प्रकार का इतिहास-लेखन वर्तमान को नियंत्रित करने के लिए भूत को नियंत्रित करने के व्यवसाय में उतरने जैसा है। यह उस पुरानी उक्ति को खारिज करने जैसा है कि 'इतिहास भूतकाल की राजनीति है और राजनीति वर्तमान का इतिहास'। तात्विक दृष्टि से देखें तो इतिहास वर्तमान राजनीति का ही आईना बनता है, समकालीन संघर्ष इतिहास के लेखन के द्वारा ही निर्धारित होते हैं। लोहिया ने यह किया और मार्क्स इसका अपवाद नहीं है'' (देखिए, 'थ्योरी एण्ड हिस्ट्रीः एन एक्सपेरिमेंट इन इंडियन हिस्टॉरियोग्राफी', 'इतिहास चिन्तन और डॉ. राम मनोहर लोहिया' पर उनके शताब्दी वर्ष 2011 में इतिहास विभाग, महात्मा गाँधी, वाराणसी द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी की प्रोसीडिंग, पृ. 28-29)।

ठीक उस समय जब आधुनिक विश्व ने आधुनिक सभ्यता के अपने ही तर्कों पर प्रश्न करने शुरू कर दिए और विशेष रूप से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब हमारी दुनिया 'उत्तर-आधुनिकता' के रूप में जाने जा रहे इस युग में अनेक प्रकार के आत्मसंशयों से ग्रस्त होती दिखाई दी (उत्तर आधुनिकता पर हुए प्रमुख लेखन के लिए देखिए, एज़ाज अहमद, ''पोस्ट-मॉडर्निज़्म इन हिस्ट्री'', द मेकिंग ऑव हिस्ट्री, नई दिल्ली, 2000, पृ. 440-477) और जैसा कि 20वीं सदी के प्रथमार्द्ध में ही कार्ल रेमण्ड पॉपर ने यह तर्क रखा कि ऐतिहासिक नियति अथवा इतिहास में नियतिवादिता का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि मनुष्य के व्यवहार को मापना संभव नहीं है और वह अनिश्चित हैं ('द पॉवर्टी ऑव हिस्टॉरियोसिज़्म', लंदन, रॉटलेज, 1960), वहीं लोहिया ने शायद ऑगस कॉम को ध्यान में रखते हुए और लगभग दो शताब्दियों पूर्व हुए आधुनिक चेतना के प्रमुख प्रतिनिधि वॉल्टेयर (1766, द फिलॉसफी ऑव हिस्ट्री, लंदन, 1819 में एल. एलकॉक एवं ई. ब्लूमफील्ड के लिए मुद्रित) की तरह इतिहास का उद्येश्य भविष्य के निर्माण के लिए आदर्शों की तलाश मानते हुए एक 'सकारात्मक विचारक' (पॉज़िटिविस्ट थिंकर) की भूमिका में मानव-इतिहास का अपना विहंगम् दृष्टिमत् या उच्चतर आख्यान (मेटा-नैरेटिव) प्रस्तुत किया। लोहिया के अपने शब्दों में, ''इतिहास.........में कोई योजनां या प्रयोजन नहीं है (!) ऐसा कोई मत् किसी भी प्रकार ग्राह्य होगा यह शिक्षाविदों के लिए छोड़ दिया जाना चाहिये। मेरी ऐसे किसी मत् में बहुत रुचि नहीं होगी क्योंकि इससे मुझे कोई ऐसा यन्त्र नहीं प्राप्त होता, विचार करने के लिए कोई औजार नहीं मिलता जिसे काम में लाया जा सके'' (व्हील ऑव हिस्ट्री, पृ.5)।

लोहिया ने इतिहास की अपनी अवधारणा और इतिहास की पृष्ठभूमि में समकालीन विश्व में हो रहे राजनीतिक बदलावों के बारे में अपनी समझ और भविष्य की दिशा के प्रति अपने अनुमानों को क्रमशः निम्नलिखित शीर्षकों में रखाः इतिहास का उद्येश्य (पर्पज़ ऑव हिस्ट्री), चक्रीय एवं आभासीय चक्र सिद्धान्त (साइक्लिकल एण्ड सुडो-साइक्लिकल व्यूज़), इतिहास की पदार्थवादी व्याख्या

(मैटेरिअल इण्टरप्रेटेशन ऑव हिस्ट्री), इतिहास में पदार्थ और चेतना (मैटर एण्ड स्पिरिट इन हिस्ट्री), वर्ग एवं जाति (क्लास एण्ड कास्ट), महाद्विपीय विचलन (कॉण्टिनेण्टल शिफ्ट्स), मानव जाति की संभावनाएँ (एप्रॉक्सिमेशन ऑव मैनकांइड), आन्तरिक संभावनाएँ (इण्टरनल एप्रॉक्सिमेशन), समकालीन स्वप्न (करेंट ड्रीम्स), आधुनिक सभ्यता का अर्थ (मीनिंग ऑव मॉडर्न सिविलिज़ेशन) एवं 'पूर्ण कौशल' (टोटल इफिशिएंसी)।

इतिहास का उद्येश्य वर्तमान को समझने तथा मानव सभ्यता के भविष्य का अनुमान लगाने के एक माध्यम और औजार के रूप में मानते हुए लोहिया ने एक ओर प्रमुखतः हेगल, टॉयनबी, स्पेंगलर और सोरोकिन के हवाले से और दूसरी ओर कार्ल मार्क्स के अध्ययन से आधुनिक काल में प्रचलित इतिहास के कुछ प्रमुख चक्रीय एवं आभासीय चक्र सिद्धान्तों तथा इतिहास की पदार्थगत् व्याख्याओं की विवेचना की। इनमें से उन्होंने प्रत्येक को अपने आप में मानव सभ्यता के इतिहास की प्रगति की प्रकृति/प्रक्रिया को समझने के लिए अपर्याप्त पाया और 'मानव चेतना' या 'पदार्थ' किसी एक के पक्ष में ही खड़ा देखा। डॉ. लोहिया ने 'मानव-चेतना' और 'पदार्थ' के नैसर्गिक गुणों, चरित्र और उनके अन्तर्सम्बंधों की दिशा को गहराई से समझने के प्रयास में इन सभी विचारों का एक अद्भुत संश्लेषण प्रस्तुत किया। पदार्थवादी पश्चिमी दर्शन और अध्यात्मवादी या नैतिकतावादी पूर्वी दर्शनों और उनसे सम्बन्धित सभ्यताओं को सन्दर्भित करते हुए लोहिया ने 'इतिहास-चक्र' की एक सम्यक अवधारणा प्रस्तुत की। उन्होंने हेगल द्वारा प्रतिपादित 'चेतना'(फिनेमेनोलॉजी ऑव स्पिरिट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1977), मार्क्स के 'पदार्थ' के व्यवहार (देखिए, 'दास कैपिटल एवं अन्य रचनाएँ'), टॉयनबी की 'चुनौती और प्रतिक्रिया' की विवेचना (ए स्टडी ऑव हिस्ट्री, लंदन, 1934) और स्पेंगलर के 'संस्कृतियों के उत्थान और उनमें शोषण के चक्र' (डिक्लाइन ऑव द वेस्ट, मैन एण्ड टेक्नीक्स, न्यूयार्क, 1934) जैसी व्याख्याओं को सम्मिलित करते हुए मानव सभ्यताओं और संस्कृतियों की प्रगति और उनके उत्थान और पतन का अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया जिसे उन्होंने 'इतिहास-चक्र' का नाम दिया।

उनके विश्लेषण के अनुसार 'मानव-चेतना' और 'पदार्थ' न तो पूरी तरह स्वतंत्र या एक-दूसरे के प्रति निरपेक्ष हैं और न ही वह एक-दूसरे पर निर्भर हैं। वह दोनों ही परस्पर सम्बद्ध भी हैं और असम्बद्ध भी। 'पदार्थ' का गुण जहां भौतिक विकास, तकनीकि प्रगति और उसका विस्तार है जो पूँजी, सम्पत्ति और शक्ति पर निर्भर है और इन्हें रखने और इनको नियंत्रित करने वाले व्यक्ति या समूह इसके निर्धारक होते हैं। वहीं सामाजिक सन्दर्भ में 'मानव-चेतना' का गुण व्यक्तिगत् स्वार्थों या बंधनों से इतर सम्यकता, करुणा तथा सर्वसाधारण की आकांक्षा/सामूहिक इच्छा पर आधारित एक समता उन्मुख शोषण मुक्त समाज की रचना है। यदि 'मानव-चेतना' और 'पदार्थ' परस्पर सकारात्मक सम्बन्धों में हैं या अनुकूल और क्रियाशील हैं तो समाज उन्नति करेगा, संस्कृति प्रगति करेगी और मानवीय जगत में 'पूर्ण कौशल' की ओर उन्मुख होगी। यदि दोनों में से कोई भी क्रियाहीन हुआ अथवा दोनों परस्पर नकारात्मक या विरोधी दिशा में हुए या एक-दूसरे के क्षेत्र में अनपेक्षित हस्तक्षेप करते हुए तो वह समाज किसी एक दिशा में ही अपने 'अधिकतम कौशल' को प्राप्त करते हुए अन्ततः अधोगति और पतन को प्राप्त करेगा। इसे स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि यदि 'पदार्थ' द्वारा 'मानव चेतना' का अतिक्रमण हुआ तो समाज अत्यधिक भौतिकतावादी हो जायेगा और अपने मानवीय तत्व को खोते हुए अन्धकार में चला जायेगा। इसी प्रकार यदि 'मानव चेतना' निरपेक्ष हो जाए या अतिशय अध्यात्मिकता की दोषी हो जाए तो वह 'पदार्थ' के विकास को अवरुद्ध कर देगी और वह समाज मानव की बढ़ती हुयीं आवश्यकतानुसार अपने भौतिक संसाधनों में दुर्बल पड़ जायेगा।(व्हील ऑव हिस्ट्री, पृ. 21 और आगे)

प्रसिद्ध भारतीय इतिहास दार्शनिक गोविन्द चन्द पांडे भी प्रकारान्तर से लोहिया के इतिहास चिन्तन का समर्थन करते दिखाई देते हैं जब वह 'चेतना' और 'पदार्थ' के स्थान पर क्रमशः 'संस्कृति' और 'सभ्यता' के परस्पर सम्बन्धों की बात करते हुए 'सामूहिक इच्छा' के बजाय 'नैतिकता' को किसी समाज की दिशा में उसकी मजबूती या कमजोरी के मूल्यांकन का आधार मानते हैं। उनके अनुसार भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक खोज के बीच का सूत्र नैतिक सामाजिक जीवन में ही होता है जिसे कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन (कर्म-क्षेत्र) या नैतिक संघर्ष (धर्म-संग्राम) के रूप में जाना जा सकता है। यही वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था का स्रोत है। आदर्श खोजें प्रायः रोजगार, शिक्षा, अवकाश, सुरक्षा एवं शारीरिक व्याघाओं से प्रतिरोध की क्षमता उपलब्ध कराने की अभिलाषा से ही युक्त होती हैं। भागवत् में कहा गया है, धर्मदाक्षिप्यतेह्यर्थः, जो बात ग्रीन की इस उक्ति में भी परिलक्षित होती है कि एक आदर्श जीवन के लिए मानव अधिकारों का होना ज़रूरी है और उनके व्यवहार के लिए एक सुव्यवस्थित राज्य का होना भी आवश्यक है। गो.च.पांडे

ने आगे कहा है कि यदि कोई सभ्यता नैतिकता की उपेक्षा करती है तो वह संस्कृति की विरोधी हो जाती है और उसका आन्तरिक ताना-बाना टूटने लगता है, धर्मों रक्षति रक्षितः। इसी प्रकार यदि आध्यात्मिक संस्कृति ज्ञान की अनाधिकार चर्चा में संलग्न होकर कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन से ध्यान हटा देती है तो वह स्वयं अपने आधार को नष्ट कर देती है। (भारतीय संस्कृति का मूल स्वर, नई दिल्ली, 1981-82)

रामकृष्ण मणि त्रिपाठी ने लोहिया द्वारा इतिहास की प्रवृत्ति की व्याख्या को निर्ष्कषतः इस रूप में व्यक्त किया है, 'इतिहास-चक्र सभ्यताओं के उत्थान और पतन की प्रक्रिया का एक सांमान्य नियम समझने और यह समझाने का प्रयास है कि यह सब क्यों होता है! लोहिया आध्यात्मिकता (आदर्श) और भौतिकता के बीच सन्तुलन का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। जब मानव अस्तित्व के यह दो पक्ष परस्पर सन्तुलित होते हैं तो सामूहिक इच्छा का आदर होता है और 'पूर्ण कौशल' प्राप्त होता है। जब किसी स्थिति में कोई एक आयाम दूसरे की उपेक्षा करके 'अधिकतम कौशल' को प्राप्त कर लेता है समस्या खड़ी हो जाती है। बौद्धिक और भौतिक के बीच चलने वाला यह द्वन्द्व यह भी प्रकट कर देता है कि मनुष्य केवल एक आर्थिक प्राणी नहीं है बल्कि उससे अधिक कुछ है। इस प्रकार लोहिया का इतिहास-चक्र मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की पदार्थवादी व्याख्या से बहुत अलग खड़ा दिखाई देता है।' (पूर्वोद्धृत)

लोहिया की दृष्टि में 'चेतना' और 'पदार्थ' के बीच असन्तुलन ही किसी सभ्यता में वर्गों को जातियों में बदल देता है जो ऐसी रूढ़िगत् समुदाय होती हैं जो मानव के मस्तिष्क और कौशल की प्रगति को अवरुद्ध कर देती हैं। इतिहास की यही प्रक्रिया सामाजिक एवं क्षेत्रीय असमानताओं को जन्म देती है और आगे या पीछे उस सभ्यता के पतन का कारण बनती है। यही प्रक्रिया इसी के समानान्तर भौगोलिक रूप से सभ्यता के नए-नए क्षेत्रों के निर्माण को भी अभिप्रेरित करती चलती है जहां अपेक्षाकृत् नए वर्गों के उद्भव के साथ नए शक्ति केन्द्रों का निर्माण होता है जिसे महाद्विपीय/क्षेत्रीय विचलन के रूप में समझा जा सकता है। परन्तु वहां भी आन्तरिक और बाह्य दोनों ही रूप से मानव की आधारभूत संभावनाओं की मौलिक समझ के अभाव में 'पूर्ण कौशल' की दिशा में आगे बढ़ने के बजाय किसी एक दिशा में ही 'अधिकतम् कौशल' का निर्माण होना प्रारम्भ हो जाता हैं। इस दृष्टि से आधुनिक सभ्यता के गुण-दोष पर विस्तार से चर्चा करते हुए लोहिया ने समस्त मानवता की भलाई के उद्येश्य से प्रेरित होने का दावा करने के बावजूद इसे भी इतिहास की प्रगति की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों को समझने के मामले में कमजोर ही पाया है।

लोहिया ने मनुष्य और सम्पूर्ण मानव समाज की क्षमताओं को मानसिक और भौतिक दोनों ही स्तरों पर पूर्णतः विकसित होने देने की संभावनाओं पर विचार किया जो उनके अनुसार समानता और न्याय पर आधारित सामान्य इच्छा/सामूहिक इच्छा के स्वाभाविक रूप से स्वीकार्य होने पर ही निर्भर होगी, न कि ऊपर से आरोपित छद्म पहचानों से जो केवल कुछ चुनिन्दा लोगों के स्वार्थों की पूर्ति करते हों! वही उनकी दृष्टि में 'पूर्ण कौशल' की दिशा होगी। सामान्य इच्छा/सामूहिक इच्छा का अर्थ इस सन्दर्भ में मानव जीवन के लिए एक ऐसी प्रणाली का निर्माण होगा जिसमें प्रशासन की स्वायत्तता, सम्मानजनक एवं समतामूलक प्रतिदान या पारिश्रमिक की अपेक्षा से कार्य करने की इच्छा, समानता और न्याय पर आधारित सामाजिक समरसता के साथ ही सम्पूर्ण मानवता की भलाई के उद्येश्य से किए जाने वाले अविष्कार एवं युक्तियों की सतत् लालसा सन्निहित होगी। यही मनुष्य के आत्मिक विकास के साथ उसके पारमार्थिक उन्नति का भी मार्ग होगा। लोहिया के अपने शब्दों में, 'कोई भी पुरानी सभ्यता प्रारम्भ से निर्धारित अपने 'अधिकतम् कौशल' के मार्ग से हटकर कभी भी सभी दिशाओं में 'पूर्ण कौशल' की ओर उन्मुख नहीं हो सकी। 'पूर्ण कौशल' के लिए किसी सभ्यता को सम्पूर्ण मानवता और एक मनुष्य की पूर्णता के हिसाब से मान्य होना होगा। पीछे की मानव सभ्यताएं इन दोनों ही मामलों में असफल हुयी हैं। हर एक ने अपने कुछ चुनिन्दा लोगों के लिए ही 'अधिकतम् कौशल' का प्रयास किया है जिससे वह सभ्यता और उसके संवाहक संतुष्ट रह सकें और बाहरी दुनिया पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकें। यद्यपि विभिन्न सभ्यताओं में इस प्रकार के कौशल की प्रकृति एवं प्रकार बदलते रहे लेकिन वह अपने चुनिन्दा लोगों और बाह्य जगत के बीच की दूरियों को खत्म नहीं कर सकीं। यही कारण रहा कि ताकत और सम्पन्नता के क्षेत्रीय स्थानान्तरण को रोकने में भी वह नाकाम रहीं और एक अपेक्षाकृत् सबके लिए कल्याणकारी दुनिया की रचना कभी संभव नहीं हो सकी। इसी प्रकार किसी सभ्यता में किसी व्यक्ति की क्षमताओं के विकास की संभावना भी वहीं तक रही जितना कि 'अधिकतम् कौशल' के दायरे के उन समूहों की ज़रूरत थी। ऐसे गुणों एवं स्वाभाविक अन्तस्चेतनाजनित ज्ञान को सामान्यतया नकार ही दिया गया जो किसी सभ्यता विशेष में गैरज़रूरी माने गए। इस प्रकार व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास कभी संभव नहीं हुआ। किसी

व्यक्ति विशेष का कोई एक पक्ष अधिकतम् क्षमता तक विकसित हो सकता रहा लेकिन उसको सम्पूर्णता में (उसके व्यक्तित्व के अन्य गुणों और आयामों की संभावनाओं को) कभी छुआ नहीं जा सका। वर्तमान सभ्यता और इसके भविष्य को भी 'पूर्ण कौशल' की इन दो कसौटियों पर कसना होगा।' (व्हील ऑव हिस्ट्री, पृ.66)

अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य वर्तमान पश्चिमी सभ्यता-अन्तर्राष्ट्रीय या वैश्विक व्यापार

आधुनिक काल के सन्दर्भ में पश्चिमी जगत द्वारा प्रारम्भ की गयी अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति पर विस्तार से चर्चा करते हुए डॉ. लोहिया ने सुझाया है, 'यह पता करने के लिए कि क्या उपयुक्त तकनीकि एवं 'पूर्ण कौशल' की चेतना योरोपीय सभ्यता के लिए संभव होगी तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों के मामले में उसके अवधारणात्मक आख्यान से कुछ समझ बनायी जा सकती है। एक समय था जब इस सभ्यता ने श्रम के भौगोलिक विभाजन के बारे में सोचा था। जैसे यान्त्रिक और बड़े कारखानों में श्रम के विभाजन के व्यवहार से किसी राष्ट्र को उसका लाभ मिलता है वैसे ही यह कल्पना की गई कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन का लाभ सम्पूर्ण मानवता को पहुँचायेगा। योरोपीय सभ्यता उस समय अपने उत्थान के चरण में थी। मस्तिष्क आशाओं से भरा हुआ था। इसलिए उसके सिद्धान्त भी आशावादी थे। योरोपीय सभ्यता के उस दौर में वह अपने चुनिन्दा लोगों के 'अधिकतम् कौशल' को सम्पूर्ण मानवता के 'पूर्ण कौशल' के रूप में समझने का भ्रम पाल सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के इस दोषपूर्ण सिद्धान्त की कोई दूसरी व्याख्या नहीं हो सकती जैसा कि श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन को जमीन पर उतारने से प्रकट हुयी। जब योरोपीय समाज ज़्यादा या कम सम्पन्नता के समाजों में बिखरना शुरू हुआ और कुछ पश्चिमी योरोपीय समाजों में बेरोजगारी का गम्भीर संकट पैदा होता दिखाई दिया तो उनका मस्तिष्क इस दिशा में नए ढंग से सोचने के लिए मजबूर हुआ। तब भी यह मानव मात्र के 'पूर्ण कौशल' के अर्थ में कुछ सोचने में असफल रहा और 'अधिकतम् कौशल' की धारणाओं से मुक्त नहीं हो सका। यद्यपि योरोपीय सभ्यता हमेशा समस्त मानव जाति के लिए मान्य अमूर्त सिद्धान्तों की बात करती रही है जबकि वास्तव में वह कुछ चुनिन्दा लोगों की स्वार्थयुक्त इच्छाओं को ही पूरा करने के छद्म माध्यम बनते हैं। इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों को संशोधित करते हुए उसमें पूर्ण रोजगार का मसला जोड़ा गया।

वैश्विक सन्दर्भ की बात के बावजूद यह अवधारणा अनिवार्यतः पश्चिमी योरोपीय है। यह केवल राष्ट्रीय सन्दर्भ में ही रोजगार का अर्थ रखती है। जिन क्षेत्रों में अधिकांश जनता सम्यक रूप से रोजगार से न जुड़ी हो और इस कारण किसी सम्यक रोजगार के बराबर सम्पत्ति का निर्माण नहीं करती हो वहां अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कुछ खास लाभ मिलता दिखायी नहीं देता। जहां दो सापेक्षतया सम्यक अर्थ-व्यवस्थाओं के बीच की बात हो जैसे ब्रिटेन और अमेरिका का मामला हो तो उनके किसी समय स्थायी अथवा व्यापक रूप से बेरोजगारी की समस्या से ग्रस्त होने की स्थिति में श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के साथ पूर्ण रोजगार पर आधारित विश्व व्यापार के सिद्धान्त को लाभकारी रूप से लागू किया जा सकता है। परन्तु उन कमजोर अर्थ-व्यवस्थाओं में पूर्ण रोजगार का मतलब क्या होगा जहां दस से पन्द्रह घण्टों की कड़ी मेहनत केवल उतना ही सम्पत्ति का निर्माण कर पाती है जितना कि विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में केवल एक घण्टे के मानव श्रम से ही निर्मित हो जाता हो जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनके उत्पादों के व्यापारिक आदान-प्रदान में मूल्य और पारिश्रमिक के बीच अन्तर का कारण बनता है? अतः वैश्विक व्यापार के लिए वैश्विक रूप से स्वीकार्य किसी सिद्धान्त के निर्माण के लिए श्रम के अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन और पूर्ण रोजगार के इन सभी सिद्धान्तों के साथ सम्यक उत्पादन को भी सम्मिलित करना होगा। क्योंकि केवल पूर्ण रोजगार को सुरक्षित करना ही पर्याप्त नहीं होगा बल्कि रोजगार का स्वरूप ऐसा हो जिससे विश्व के सभी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत समान रूप से सम्पत्ति का सृजन हो सके। इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि करीब दो सौ वर्षों से ऊपर के अपने आर्थिक चिन्तन के बावजूद वर्तमान सभ्यता अपेक्षाकृत समान उत्पादन पर आधारित पूर्ण रोजगार का कोई सिद्धान्त गढ़ने में असफल रही है। ऐसा कोई सिद्धान्त किसी अनुमान से ज्यादा विस्फोटक/क्रांतिकारी होगा। इससे राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर जीवन स्तर को ऊँचा उठाने, प्रचलित तकनीकि को अनिवार्यतः वैज्ञानिक मानने और स्वयं राष्ट्रीय राज्यों की धारणाएं खण्डित होने लगेगीं। परन्तु ऐसा कोई सिद्धान्त यदि सही है तो इसके लिए दिमाग बनाने की जरूरत होगी और ऐसा करने के लिए एक ऐसी चेतना और सम्पूर्ण मानवता के लिए सम्मानजनक जीवन-स्तर की इच्छा पर आधारित तकनीकि का इजाद् करना या उसे समझना होगा। यद्यपि प्रारम्भिक रूप से ही सही वर्तमान में दुनिया के कमजोर हिस्सों में ऐसे सिद्धान्त का सूत्र बनाया जा चुका है और अब यह योरोपीय सभ्यता के संवाहकों पर निर्भर है कि

वह इसे स्वीकार करें या अस्विकार! इस सिद्धान्त को मानसिक रूप से स्वीकार किए जाने से भी ज़्यादा जरूरी है इसको जमीनी हक़ीकत बनाने के लिए लोगों में इसके लिए इच्छाशक्ति का होना और उसके लिए अपने संघर्ष को साबित करना। इस प्रकार का कोई प्रमाण फिलहाल मिलता नहीं दिख रहा। परन्तु 'अधिकतम् कौशल' को 'पूर्ण कौशल' की दिशा में ले जाने की आवश्यकता के प्रति जागरूकता बढ़ती ज़रूर लग रही है।' (वही, पृ.58-59)

डॉ. लोहिया की उपर्युक्त दूरदृष्टि और नए सिद्धान्तों को आजमाने में हो रही देरी से विश्व की विकसित और कम विकसित सभी आर्थिक प्रणालियों में पैदा हो रहे संकटों के स्वरूप को समझना मुश्किल नहीं होगा। जहां अमेरिकी और योरोपी एक ओर संरक्षणवादी स्वार्थी राष्ट्रवाद की ओर वापस मुड़ते दिख रहे हैं वहीं विकासशील या अविकसित चाहे अनचाहे विकसित आर्थिक प्रणालियों से तालमेल बैठाने की कोशिश में असमान वैश्विक व्यापार का ग्रास बन रहे हैं। अमेरिका में डोनाल्ड ट्रम्प का आना, ब्रिटेन का योरोपीय संघ से बाहर जाना और अभी हाल में किसी बहाने से अमेरिका द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों (यूनेस्को आदि) से अपने को अलग करने की बात करना जैसे विकसित देशों द्वारा अपनाए जा रहे हथकण्डों के साथ ही चीन और जापान की आर्थिक राजनीति और मनमोहन और मोदी सरकारों द्वारा जमीनी तौर पर घोर विसंगतियों से युक्त असमान भारतीय अर्थव्यवस्था के ऊपर उठने के दावों पर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए जो सब 'पूर्ण कौशल' की दिशा चुक जाने का परिणाम माना जा सकता है।

भारतीय परिदृश्य और पूर्ण कौशल की संभावना!

जहां तक भारतीय इतिहास का सवाल है लोहिया ने पहले जातियों के निर्माण के प्रारम्भिक दौर की कल्पना की जिसे बौद्ध आदि अब्राह्मण धर्मों से चुनौती मिली और जिसके फलस्वरूप प्रगति और समरसता के युग का पदार्पण हुआ। पुनः इसमें संकुचन उत्पन्न होने पर सुधार की एक नई लहर ने, संभवतः लोहिया का आशय प्रारम्भिक भक्ति आन्दोलनों से रहा हो, आम लोगों को आध्यात्मिक संतोष प्रदान करने की भूमिका निभाई। परन्तु शंकराचार्य के काल के साथ ही संकुचन के नए दौर में जातियों के रूढ़िकरण की प्रवृत्ति में तीव्रता आयी जिसका लाभ इस्लामी तेवर लिए नए हमलावरों को मिला जिन्होंने क्रमशः अपनी सत्ता स्थापित कर पुराने समाज के लिए सामाजिक समायोजन की नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं और मध्ययुगीन भक्ति आंदोलनों की नई उदारवादी धारा को जन्म दिया। अन्ततः अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के दौरान खड़े हुए स्वतंत्रता के लिए संघर्ष ने ही भारतीयों की ऊर्जा को एक नई चेतना और आयाम प्रदान किया जिसे महात्मा गाँधी ने सामाजिक सुधार के एक व्यापक आन्दोलन से भी जोड़ने का काम किया। स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ अपने नए राजनीतिक ढांचे के अन्तर्गत अपने तरीके से सामाजिक और आर्थिक नवनिर्माण का काम भी शुरू हुआ भले ही उसमें साधन और साध्य की पवित्रता में कोई सामर्ज्स्य बैठ पाया हो या नहीं। (वही, पृ.26; भारतीय इतिहास की मेरी अपनी समझ के अनुसार मैने भारतीय इतिहास के कुल चार चक्रों की कल्पना की है। पहला सैन्धव सभ्यता के उत्थान और पतन से सम्बन्धित है। दूसरा वैदिक-ब्राह्मण सभ्यता के उद्भव, संशोधन, चरमोत्कर्ष और पतन का है। तीसरा बाहर से आए हमलावरों के शासन के प्रारम्भ और उसके प्रभाव का है और चैथा औपनिवेशिक प्रभाव और भारत की स्वतंत्रता की प्राप्ति का है-देखिए, इण्डिया रीडिस्कवर्ड, अ न्यू विज़न ऑव हिस्ट्री एण्ड कॉल ऑव द एज, नई दिल्ली, 2006)।

जो भी हो, सम्पूर्ण दुनिया के फलक पर जो कुछ नजर आ रहा है भारत भी उसका अपवाद नहीं है। एडवर्ड डब्ल्यू. सईद के निरीक्षण के अनुसार, 'फ्रांज फेनन की इस आशा के विपरीत कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रवादी चेतना नई सामाजिक चेतना में बदल जानी चाहिये ऐसा कोई बड़ा परिवर्तन हुआ दिखाई नहीं दिया। अधिकांश नए राष्ट्रों में शक्ति पर नियंत्रण करने में तानाशाही, फासीवादी या नव-साम्राज्यवादी दलों को ही सफलता मिली है। उन बौद्धिकों को जिनकी पिछली पीढ़ियों ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ाई लड़ी थी अब लगने लगा है कि साम्राज्यवाद अभी जारी है और इसने नया और पहले से अधिक जटिल रूप ले लिया है।' (देखिए, रणजीत गुहा एवं सावित्री चक्रवर्ती स्पीयॉक द्वारा सम्पादित 'सेलेक्टेड सबाल्टर्न स्टडीज़' का प्राक्कथन)

डॉ. लोहिया की शब्दावली का उपयोग करते हुए कहा जा सकता है कि हम अपने राष्ट्रीय राज्य में भी मानवता की क्षमता के विकास की संभावनाओं को पैदा करने में बुरी तरह फेल हुए हैं। 'पूर्ण कौशल' के मार्ग को तलाशने के बजाय आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की फेल होती प्रणालियों की ही नकल में हम पुनः स्वयं अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर कुछ चुनिन्दा लोगों के लिए 'अधिकतम् कौशल' की साढ़ियाँ चढ़ने में लगे हैं। वैश्विक स्तर पर व्याप्त असमानता उसी प्रकार हमारी अपनी प्रणालियों में भी घुस आई है जो

श्रमिकों, कारीगरों, किसानों और आदिवासियों के शोषण के साथ ही पूँजीवादी ताकतों द्वारा हर दिन नई होती तकनीकि तथा अपने छलपूर्ण कौशल के माध्यम से बनाई गई पूँजी के बल पर बड़ी तादाद में मौजूद हमारे युवाओं की ऊर्जा के दुरुपयोग पर फल-फूल रही है। हम अपनी ही राष्ट्रीय सीमाओं के अन्तर्गत मानवता के उत्थान के लिए ज़रूरी श्रम के सम्मानजनक विभाजन और सभी के लिए सापेक्षिक रूप से बराबर सम्पत्ति पैदा करने वाले पूर्ण एवं सम्यक रोजगार की बात पूरी तरह भूल गए लगते हैं। जो कदाचित् तकनीकि के विवेकपूर्ण चुनाव के द्वारा संभव होता और जिसके साथ सम्यक उत्पादन और रोजगार के मामले में गाँधी की अवधारणा पर भी विचार किया जाना उपयुक्त होता।

यहां हम डॉ. लोहिया की इस चेतावनी को भी याद कर लें कि, 'जो लोग दूर भविष्य में किसी स्वर्णयुग के आने का विश्वास किए बैठे हैं वह ज्यादातर ऐसे आश्चर्यजनक भ्रम का शिकार होते हैं जिसके प्रभाव में वह किसी उच्च आदर्श को लक्ष्य करके कुछ अनावश्यक कार्य करते रहते हैं जो उनकी समझ से सुदूर भविष्य में अच्छे परिणाम देकर अपनी वैधता प्रमाणित कर सकेंगे। लेकिन वह स्वर्णयुग कभी आने वाला नहीं है। हाँ, यदि हम अपने कार्यों के चुनाव में तात्कालिकता के सिद्धान्त को अपनाएं, चाहे वह उत्पादन या वर्ग संघर्ष का मामला हो, वर्गविहीन और जातिविहीन समाज या मानवता की दिशा में उपलब्धि का मामला हो जिसमें शक्ति और समृद्धि के क्षेत्रीय स्थानान्तरण की स्थिति न बनती हो तो इसमें निरंतरता और अनंत के क्षणों के साथ होने की संभावना बनती है। किसी स्वर्णयुग के प्राप्त होने की कल्पना में ही कम से कम हम अपनी अगली पीढ़ी के लिए ऐसी स्थिति तो छोड़ सकें जहां से युद्ध और निर्धनता और भय को पूरी तरह समाप्त किया जा सके।'(व्हील ऑव हिस्ट्री, पृ. 65)।

लोहिया के कथात्मक एवं पौराणिक बिम्ब

डॉ. नीता चौबे

भारतीय इतिहास का कोई भी चिन्तन भारत में विकसित और अनुभूत कथाओं और पौराणिक परम्पराओं से सर्वथा इतर रूप से करना संभव नहीं हो सकता । वास्तविक इतिहास की दृष्टि से कथाओं और पौराणिक आख्यानों को भले ही ग्रहण करना तर्कसंगत् न हो परन्तु निश्चित ही यह कथाएं और आख्यान काल और क्षेत्र विशेष में प्रचलित मान्यताओं और धारणाओं के साथ ही कथाकार और पुराण लेखक के विचारों को प्रतिबिम्बित करते हैं। फलस्वरूप उनमें देश-काल में होते रहे समाज चेतनागत और सभ्यतागत बदलावों का संकेत मिलता है। बेबाकी के साथ भारतीय मानस की प्रगति पर शोधपरक दृष्टि रखने वाले डॉ. राम मनोहर लोहिया इस तथ्य से पूरी तरह अवगत थे कि आधुनिक युग में भारत के नवनिर्माण के लिए देश की सामाजिक और सभ्यतागत परिवर्तनों की ऐतिहासिक स्थितियों को उन कथात्मक और पौराणिक बिम्बों के द्वारा समझाया जाना आवश्यक होगा। उनके अपने शब्दों में, दुनिया के देशों में हिन्दुतान किम्वदन्तियों के मामले में सबसे धनी है। हिन्दुस्तान की किम्वदन्तियों ने सदियों से लोगों के दिमाग पर लगातार असर डाला है। इतिहास के बड़े लोगों के बारे में, चाहे वह बुद्ध हों या अशोक, लोग अनभिज्ञ हैं। दस में से एक को उनके काम के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी होगी और सौ में से एक या हजार में से एक उनके कर्म और विचार के बारे में कुछ विस्तार से जानता हो तो आश्चर्य की बात ही होगी। देश के तीन सबसे बड़े पौराणिक नाम -राम, कृष्ण और शिव सबको मालूम हैं। उनके मुकाबले में वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्तित्व कोई हैसियत नहीं रखते। अन्य देशों में भी अनेक किम्बदन्तियाँ और मिथक प्रचलित हैं। योरोपियन के लिए वह अपोलो, डायोनिसियस या ब्रुनहिल्डे जैसा कोई स्थानीय चरित्र हो सकता होगा। कई बार ऐतिहासिक व्यक्ति भी भावनाओं और कल्पनाओं से जुड़कर मिथकों का रूप ले लेते हैं। अरब के हुसैन कुछ वैसे ही हैं जो शिआओं में अल्लाह से भी ज़्यादा जुनून और बलिदान का जज़्बा पैदा कर सकते हैं। कोई शिया अल्लाह की कमियाँ सुनना भले बरदाश्त कर ले लेकिन उसके सामने हुसैन की शिकायत करने की हिमाकत कभी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार की किम्बदन्तियाँ और मिथक पूरी दुनिया में पैदा होते रहे हैं।

लोहिया की ऐतिहासिक संकल्पना में भारतीय परम्परा

में प्रतिष्ठित राम, कृष्ण और शिव के साथ ही सावित्री और द्रौपदी जैसे चरित्रों का पर्याप्त महत्व रहा है। चित्रकूट में रामायण मेले के आयोजन की परिकल्पना भी उनकी इसी दृष्टि का परिचायक है। कथा के नायकों या पात्रों को किसी सन्दर्भ विशेष में किसी विचार और आन्दोलन के माध्यम के रूप में इंगित किया जाना लोहिया के भारतीय इतिहास चिन्तन की विशेषता रही है जो न केवल आम लोगों के लिए सुग्राह्य रही बल्कि आत्म-आलोचना का मार्ग प्रशस्त करने में भी पर्याप्त प्रभावी रही है। भारतीय इतिहास को आम लोगों तक पहुंचाने और उन्हें स्वस्थ्य सामाजिक बदलावों के प्रति जागरूक करने के लिए कथाओं और पौराणिक पात्रों या नायकों के सन्दर्भ और उनमें प्रतिस्थापित आदर्श और मूल्यों के उदार, समन्वयवादी और समतावादी पक्षों का हवाला देने से बेहतर और कोई माध्यम नहीं होगा, लोहिया ऐसा मानते थे। लोहिया समझते थे इस देश के दो बड़े महाकाव्यों रामायण और महाभारत के आख्यान कई सदियों से लोगों की इतिहास कल्पना और उनकी जीवन-शैली का आधार बन चुके हैं। राम शायद काल्पनिकता की ही उपज हों और शिव तो निःसन्देह काल्पनिक व्यक्तित्व हैं। उनसे जुड़ी कथाओं में भले ही अपने रचना-काल की देशज परिस्थितियों, प्रमुख प्रवृत्तियों और किसी परम्परा विशेष की सामाजिक विचारधारा का ही प्रभाव रहा हो, परन्तु लोहिया के लिए उनके नायकों के उदात्त पक्ष और आम लोगों से उनके जुड़ाव के इतने प्रसंग भरे पड़े हैं कि वही आज के युग में उदारवादी समतावादी विचारों को भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव के साथ पुनः स्थापित करने में बड़ी मदद कर सकते हैं। राम की कथा में उनके अनुसार राम के चरित्र में सीता के परित्याग जैसे दो-चार दोषों के बावजूद उनकी मर्यादा और चारित्रिक आदर्श के इतने गुण भरे पड़े हैं कि वह लोगों को सही रास्ता दिखाने के लिए हमेशा ज़रूरी रहेंगे। भारतीयों के लिए राम अनुशासन और मर्यादा का प्रतीक हैं। कृष्ण जीवन की कलाओं, रस और श्रृगांर के साथ ही व्यावहारिक राजनीति और कूटनीति के कुशल शिल्पकार और कलाकार हैं। शिव दार्शनिक, योगी, अनंत और असीम हैं और प्राकृतिक और सामाजिक समता और सहअस्तित्व के प्रतीक होने के साथ ही इस देश की उत्पादन प्रणाली और सभ्यता में निहित संतोष का अद्भुत दैवीकरण हैं जो किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण भारत के आम जन में पूज्य हैं। पार्वती के साथ उनके संबंधों से जुड़ी कथाएं स्त्री-पुरुष प्रेम का जो रूप प्रस्तुत करती हैं वैसा कहीं देखने को नहीं मिलता, भले वह देवता और देवी की ही बात हो। लोहिया की नज़र में देवी के माध्यम से से पुरुष के कृत्यों के प्रति स्त्री की प्रतिक्रिया कोई समझना चाहे तो वह काहिरा के संग्रहालय के एक कमरे में संग्रहित कुछ आश्चर्यचकित कर देने वाली प्राचीन वस्तुओं और स्मृतियों को जाकर देख सकता है जहां तुताखामेन की कब्र के ऊपर देवी आइसिस का पैर उठा दिखाई देता है जो इस बात का संकेत है कि पुरुष जिसे बहादुरी समझता है स्त्री उसे व्यभिचार मानती है। इस मामले में पार्वती का देवी काली रूप याद किया जाना चाहिए जहां उनका पैर शिव की छाती पर उठा दिखाई देता है। इसी सन्दर्भ में ऋग्वेद में उल्लिखित एक प्रसंग को भी देखा जा सकता है जिसमें उर्वशी द्वारा अपने प्रेमी पुरुरवा की सन्तान प्राप्ति की इच्छा पूरी करने के साथ ही अपने प्रेम के प्रतिदान स्वरूप उसके (अपने प्रेमी के) प्राणों के बलिदान की मांग की गयी है। सावित्री और द्रौपदी के प्रसंगों की लोहिया द्वारा की गयी व्याख्याएँ इस दृष्टि से विचारणीय हैं जहाँ उन्होंने द्रौपदी को बुद्धिमत्ता, गुणों और साहस में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ स्त्री के रूप में देखा और बताया है। उन्होंने कृष्ण और कृष्णा (द्रौपदी का ही एक नाम) के सम्बन्धों को नए ढंग से परिभाषित करते हुए नर-नारी के बीच स्वस्थ सम्बन्धों के एक अन्य पक्ष को भी सामने रखा जो इस विषय में समता के उनके आग्रह का अद्भुत उदाहरण है।

लोहिया शायद समझते थे कि एक बार यदि सामाजिक समता की चेतना लोगों के दिल-दिमाग में ठीक से बैठायी जा सकी तो आर्थिक समानता के लिए ढाँचा और कार्यक्रम बनाने भी आसान होंगे। इसके लिए उन्होंने केवल परम्परागत् आख्यानों के माध्यम से बनी हुयी धारणाओं के सकारात्मक पक्ष का ध्यान दिलाना ही ज़रूरी नहीं समझा बल्कि आधुनिक सभ्यता की समतावादी दृष्टि से उनके उन पक्षों को भी उद्घाटित करने की कोशिश की जिन्हें परम्परागत् समाज रूढ़िगत् तरीके से मानता आया था और जिन्हें नए नजरिए से समझने-समझाने की ज़रूरत थी।

मार्क्सवाद और समाजवाद

डॉ. राममनोहर लोहिया

पूँजीवाद का विकास : सदोष विश्लेषण

किसी पंथ या सिद्धान्त के बारे में विचार करते हुए आम तौर पर लोग उसके अन्तिम स्वरूप के बारे में सोचते हैं। मार्क्सवाद के भी अपने अन्तिम लक्ष्य हैं। इस सिद्धान्त को अमल में लाने पर मनुष्य जाति कैसी बन जाएगी, इस बारे में उत्साह और गूँज भरे वाक्यों की इसमें बहुतायत है— इस तरह के वाक्य जैसे यह कि ''मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण बन्द हो जाएगा'', या ''निजी व्यक्तित्व का समृद्ध विकास मनुष्य जाति के विकास की शर्त है'', या कि ''मनुष्य तब शासित नहीं होगा, बल्कि वस्तुओं का प्रशासन किया जाएगा।'' ये सब बड़े ऊँचे और गूँज भरे वाक्य हैं, लेकिन अगर अपना ध्यान ऐसे अंतिम लक्ष्यों तक ही सीमित रखें, तो क्रोपोटकिन, मार्क्स, गाँधी, बल्कि आदम स्मिथ भी ऐसी स्थिति की आशा करते थे जिसमें शोषण बंद हो जाएगा, शांति स्थापित होगी, जिसमें सामाजिक और अंतर्राष्ट्रीय पुनः निर्माण ऐसा होगा कि व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व विकसित हो।

इसलिए किसी सिद्धान्त को, खास तौर पर मार्क्सवाद को समझने के लिए अच्छा होगा कि हम अंतिम लक्ष्य के बजाए उस अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के तरीके या उसके विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान दें। अधिकांश सिद्धान्त आज जैसे हैं, उनमें अंतिम लक्ष्य एक जैसे ही हैं। एक खास तरह के दिमाग को, और बहुसंख्यक लोगों को भी, मार्क्सवाद इसलिए आकर्षित करता है कि उसमें पूँजीवाद का एक विश्लेषण है, और यह विश्लेषण अनिवार्य रूप में अंतिम लक्ष्य को जन्म देता है। ऐसा-ऐसा होगा, इसके अलावा और कुछ हो नहीं सकता, यह एक प्रकार से विधि का विधान प्रतीत होता है। पूँजीवाद का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने मनुष्य के विकास के कुछ खास आधार प्रस्तुत किये, जो किसी की इच्छा पर निर्भर नहीं थे, जिनको बदला नहीं जा सकता था और जिनसे वह लक्ष्य अपने आप ही प्राप्त होगा, जिसकी रूपरेखा उन्होंने और अन्य कई लोगों ने प्रस्तुत की थी। इसी बात में मार्क्सवाद का खास आकर्षण है कि उसकी अनिवार्य सफलता किसी व्यक्ति या दल की इच्छाओं या संकल्प पर निर्भर नहीं है। पूँजीवाद के विकास में ही यह निहित है कि विधि के विधान की तरह मनुष्य जाति एक दिन उस स्थिति में आ जाएगी जिसे मार्क्सवाद में ''साम्यवादी'' कहा गया है। इसलिए मार्क्सवादी सिद्धान्त का मुख्य अंश पूँजीवाद के विकास का यह विश्लेषण ही है। पूँजीवादी विकास के कुछ नियम खोजे और प्रस्तुत किए गए हैं। इस कारण मार्क्सवाद को समझने के लिए मोटे तौर पर यह जानना जरूरी है कि पूँजीवादी विकास के ये नियम क्या हैं।

मार्क्स अपनी बात यहाँ से शुरू करते हैं कि आदमी की मेहनत के दो मूल्य होते हैं, जबकि अन्य सभी वस्तु का केवल एक ही मूल्य होता है। आदमी की मेहनत का एक उपयोग-मूल्य होता है और एक विनिमय-मूल्य। मैं यथासंभव पेचीदगी की बातों में नहीं जाऊँगा। आदमी की मेहनत के दो मूल्य होते हैं, एक जो मजदूर को उसकी तनखाह के रूप में मिलता है और दूसरा जो मालिक को कुल पैदावर के एक हिस्से के रूप में मिलता है। ये दोनों अलग-अलग है। मजदूर जितनी पैदावर करता है, वह सब उसे नहीं मिलती, और इसलिए मेहनत की पैदावार और उसकी तनखाह में एक फर्क रहता है, जो कुछ मजदूर को मिलता है और जो कुछ पूँजीपति या मालिक अपने लिए रख लेता है, यानी मजूरी और मुनाफे का फर्क, और इस फ़र्क को ही मार्क्सवादी सिद्धान्त में आम तौर पर अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है। मेहनत के इन दो मूल्यों के फ़र्क के कारण मजदूर रखने वाला हर मालिक, मजदूर की कुल पैदावार के एक हिस्से को खुद अपने लिए रख सकता है। अतिरिक्त मूल्य के इस विचार को लेकर मार्क्स यह दिखाते हैं कि धन संचित करने और अपनी पूँजी को बढ़ाने की प्रक्रिया में ही पूँजीपति मजदूर वर्ग में ऐसी स्थितियाँ पैदा करता है, जिनके फलस्वरूप पूँजीवाद का अंत होता है। मालिक मुनाफा कमाता है, नये कारखाने खड़े करता है, नये-नये और ज्यादा बड़े कारखाने खोलता है। पूँजी का इस्तेमाल बढ़ने से बड़े पैमाने के

मशीनीकरण का विकास होता है, जिसमें मजदूर का हिस्सा घटता जाता है, पूँजीपति का हिस्सा बढ़ता जाता है, इसके फलस्वरूप, एक ओर तो पूँजी का विशाल संचय और केंद्रीकरण होता है, दूसरी ओर मजदूरों में गरीबी बढ़ती है, और उनका अधिकाधिक समाजीकरण होता है। ये तीनों चीजें एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं—पूँजी का बढ़ता हुआ केंद्रीकरण, श्रम का बढ़ता हुआ समाजीकरण, और मजदूरों की बढ़ती हुई गरीबी।

इसके बाद मार्क्स पूँजीवादी विकास के एक अन्य नियम पर आते हैं : मजदूरों की बढ़ती हुई गरीबी के कारण, और इस कारण कि सारी उत्पत्ति बेची नहीं जा सकती, क्योंकि उत्पत्ति का एक हिस्सा पूँजीपति मजदूर से छीन कर खुद अपने पास रख लेता है, संकट पैदा होता है, संक्रमण का संकट या व्यापार का संकट। वक्ती बेरोज़गारी के अलावा, व्यापार में मंदी आती है। व्यापार घटता है, बेरोजगारी बढ़ती है, उद्योग-धंधे घटते हैं। ऐसे औद्योगिक संकटों की गंभीरता बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि पूँजीवाद एक आम संकट की हालत में आ जाता है। उस अतिरिक्त मूल्य के कारण ही जिसका जिक्र पहले हुआ पूँजीवाद बार-बार पैदा होने वाले संकटों से बढ़कर आम संकट की हालत में आ जाता है। जितनी पैदावार होती है, उस सबको बेचा नहीं जा सकता, इसलिए मंदियों का आना अनिवार्य हो जाता है। यहाँ मार्क्स विकास का एक और नियम सामने रखते हैं, जो पूँजीवाद के पतन की गूँज भरी शब्दावली के साथ जुड़ जाता है। इसका सिद्धान्त है कि पूँजीवाद खुद अपने विकास की प्रक्रिया में ही अपनी कब्र खोदने वालों को, अपने अजेय शत्रु को पैदा करता है। जिस प्रक्रिया से होकर पूँजीवाद बढ़ता और प्रौढ़ होता है, अपने क्षेत्र और प्रभाव को फैलाता है, उस प्रक्रिया में ही पूँजीवाद सर्वहारा के समूह का निर्माण करता है, जो कि बड़ी तादाद में बड़े-बड़े कारखानों में इकट्‌ठा होते हैं। वे धन और सम्पत्ति से बिल्कुल वंचित हो जाते हैं, और उनकी आम हालत बराबर बिगड़ती जाती है। इसलिए एक ओर मजदूर वर्ग तथा दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग के बीच युद्ध या संघर्ष की स्थिति खुद पूँजीवादी विकास का ही लाजमी नतीजा है। इसके लिए किसी के संकल्प की जरूरत नहीं। पूँजीवादी विकास में ही यह संकल्प लगभग अनिवार्य सा मौजूद है। ऐसे लोग होंगे जिनमें यह संकल्प आएगा। ऐसे लोग होंगे जो इस लड़ाई में हिस्सा लेंगे। ऐसे समूह और दल पैदा होंगे जो सर्वहारा वर्ग को संगठित होने के लिए कहेंगे। इससे किसी तरह बचा नहीं जा सकता, क्योंकि सर्वहारा वर्ग की तादाद बढ़ती ही चली जाएगी। इस वर्ग का समाजीकरण होगा, इसका रहन-सहन बिगड़ेगा, इसलिए पूँजीवाद लगातार खुद अपने कब्र खोदनेवाले पैदा करेगा, यहाँ तक कि आम संकट की हालत आ जाने पर उस पर एक मारक चोट होगी, बहुसंख्यक और संगठित सर्वहारा पूँजीपतियों को उनकी सम्पत्ति से, पैदावार के साधनों पर उनके नियंत्रण से उन्हें वंचित कर सकेगा। यहाँ फिर एक गूँज भरा वाक्य आता है, ''जो वंचक हैं वे वंचित हो जाएँगे।''

यहाँ पैदावार की शक्तियों और पैदावार के रिश्तों के बारे में कुछ कहना जरूरी है। कारखाने या मशीनी खेती वाले खेत वगैरह पैदावार की शक्तियाँ हैं, जो उद्योग और खेती में विज्ञान के इस्तेमाल से बनती हैं। उत्पादन के ये बहुसंख्यक औजार और मशीनें विज्ञान के इस्तेमाल का फल हैं। ये पैदावार की शक्तियाँ हैं। मालिक और मजदूर, जमीन मालिक और किसान वगैरह के बीच जो रिश्ते हैं, वे पैदावार के रिश्ते हैं। पूँजीपति और मजदूर वर्ग के टकराव के पीछे इन पैदावार की शक्तियों और पैदावार के रिश्तों में टकराव छिपा है। उद्योग-धन्धों में विज्ञान के लगातार इस्तेमाल से पैदावार की शक्तियों में लगातार बढ़ते जाने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति होती है, जबकि पैदावार के रिश्ते उनके बढ़ने में रुकावट डालते हैं, बाधक होते हैं, और उन्हें पूरी क्षमता तक बढ़ने नहीं देते, क्योंकि किसी भी कौम की सालाना उत्पत्ति का एक हिस्सा पूँजीपति अपने लिए रख लेता है, और इससे संकट पैदा होता है। पैदावार की शक्तियों के अनन्त या निरन्तर विकास में पैदावार के रिश्ते बाधक होते हैं, बराबर बाधा डालते हैं और तब यह टकराव इतना ज्यादा बढ़ जाता है कि सारी गति के फलस्वरूप, जैसा मार्क्स ने कहा, पूरी गठन ही, पूरा ढाँचा ही टूट जाता है, जिसमें पैदावार की शक्तियाँ और पैदावार के रिश्ते दोनों ही आ जाते हैं। तब सम्पत्ति की मलकियत के रिश्ते बदल जाते हैं, मूल रूप में बदल जाते हैं। नये रिश्ते बनते हैं, और पैदावार की शक्तियों का विकास आसान हो जाता है।

पूँजीपति वंचित हो जाते हैं। सामन्तशाहों के जो अवशेष बच रहते हैं, वे भी वंचित हो जाते हैं। मजदूर वर्ग कुल उत्पत्ति में से अपना हिस्सा प्राप्त करने लगता है और उसका कोई हिस्सा उसे अतिरिक्त मूल्य के रूप

में देना नहीं पड़ता है। औद्योगिक संकट या आम संकट का कोई कारण नहीं रह जाता। किसी कौम के अन्दर एक साल में जो पैदावार होती है उस सब का या तो इस्तेमाल हो जाता है, या यह बिक जाती है, या सामाजिक पूँजी के रूप में लग जाती है। इसलिए जब वंचक वर्ग वंचित हो जाता है, तो मनुष्य जाति उस चरण में प्रवेश करती है जहाँ मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण बंद हो जाता है, जहाँ हर निजी व्यक्तित्व का विकास सभी के समृद्ध विकास की शर्त बन जाता है, जहाँ मनुष्यों पर शासन करने की और जरूरत नहीं रहती, केवल वस्तुओं का प्रशासन करना रहता है।

मार्क्स ने पूँजीवाद का जो विश्लेषण किया है, मोटे तौर पर यह उसकी रूपरेखा है। क्या यह सार रूप में सही है? यही मार्क्सवाद का मर्म है। बाकी बातें महत्वहीन हैं। अगर हिन्दुस्तान में ऐसे कुछ लोग हैं जो मार्क्सवाद को क्रांति सम्बन्धी तरह-तरह की आम और अस्पष्ट भावनात्मक बातों को जोड़ते हैं, तो उनसे मुझे यही कहना है— पूँजीवाद का विश्लेषण। और यह कि प्रशासन या सरकार के कानूनों से कहीं ज्यादा बड़ी शक्ति कैसे पायी जा सकती है, यही मार्क्सवादी सिद्धान्त का असली मर्म है। पूँजीवाद ने इस समाजशास्त्रीय नियम की तात्विक शक्ति के साथ ही समाज का वह अंतिम स्वरूप जुड़ा हुआ है जिसका चित्र मार्क्स और एंजेल्स ने प्रस्तुत किया। पूँजीवाद के विकास का यह विश्लेषण अगर सार रूप में सही हो, तो कुछ खास भविष्यवाणियों के मामले में मार्क्स और एंजेल्स ने चाहे जितनी गलतियाँ की हों, हमें अपने आचरण और अपने कार्यों के लिए एक ठोस और पक्का आधार मिल जाता है और मनुष्यजाति के भविष्य के लिए एक ऐसी महान आशा प्राप्त की जाती है कि जितनी भी शक्ति और साधन हमारे पास हों, सब हम उसके लिए समर्पित कर दें। क्या यह सार रूप में सही है?

तथ्य सम्बन्धी बातों में यहाँ मैं नहीं जाऊँगा। केवल इस तरह की प्रक्रियाओं की तरफ आपका ध्यान खींचना चाहूँगा कि पूँजीवादी देशों में निश्चय ही मजदूरों की गरीबी नहीं बढ़ी है। औद्योगिक संकट अपने आप बढ़कर आम संकट में बदल जाएगा, इसकी उम्मीद चाहे जितनी की गई हो, कम से कम अभी तक ऐसा हुआ नहीं है। पूँजीवादी ढाँचा विकसित देशों में नहीं टूट रहा, उन्हीं देशों में टूट रहा है जहाँ पूँजीवादी विकास अभी निचले स्तर पर है। ये सर्वथा निर्णायक तथ्य है। जिस सिद्धान्त की हम समीक्षा कर रहे हैं उसमें इनकी व्याख्या किस तरह की जा सकती है, इसका पता लगाने की कोशिश किये बिना इन्हें मान लेना या छोड़ देना बिल्कुल गलत होगा।

अतिरिक्त मूल्य, वर्ग संघर्ष और आखिरी क्रांति के इस सिद्धान्त में जो अन्दरूनी और निहित तर्क है, उसकी जाँच करना जरूरी है। पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्त ने पूँजीवाद की समीक्षा पश्चिम यूरोपीय घटना के रूप में की है। यह ठीक है कि पूँजीवाद पश्चिमी यूरोप में पैदा हुआ,पश्चिमी यूरोप में बढ़ा और वहीं पूरी तरह विकसित हुआ; लेकिन बढ़ते हुए भी, उसकी गति के पीछे जो ताकत थी, उसका बड़ा हिस्सा उसने ऐसे इलाकों से हासिल किया था जो उसके साम्राज्यवादी नियंत्रण में थे, लेकिन पश्चिमी यूरोप के बाहर थे। इस कारण पूँजीवादी विकास को समझने के लिए, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को खाली पश्चिमी-यूरोप की अर्थव्यवस्था के रूप में देखना काफी नहीं। वह तो सिर्फ पूँजीवाद का अन्दरूनी घेरा है। बाकी दुनिया का एक बाहरी दायरा भी है जहाँ से पश्चिमी यूरोप का अन्दरूनी दायरा अपनी गति प्राप्त करता है, या मार्क्स की शब्दावली का इस्तेमाल करूँ तो अपना 'अतिरिक्त मूल्य' हासिल करता है, उसका शोषण करता है, उसे चूसता है। किसी भी हालत में, पूँजीवाद को सिर्फ पश्चिमी यूरोप की चीज या सिर्फ राष्ट्रीय चीज मान कर उसका विश्लेषण करना बुनियादी तौर पर गलत होगा। इसका विश्लेषण करते हुए उसके दो-मुखी रूप को देखना होगा, एक राष्ट्रीय और दूसरा अधिक व्यापक विश्व रूप और उन दोनों के बीच शोषक और शोषित का रिश्ता है। यह ठीक है कि मार्क्स इन असलियत को अच्छी तरह जानते थे कि पश्चिमी यूरोप की इन पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्थाओं ने एशिया और दुनिया के अन्य हिस्सों से बड़ा मुनाफ़ा कमाया था। मार्क्स ने कई जगह इस तरह की बात कही है। लेकिन यह उनके मुख्य सिद्धान्त का एक परिशिष्ट मात्र है। यह उनके सिद्धान्त का अभिन्न अंग नहीं, बल्कि वैसे ही है जैसे किसी जानवर की दुम।

मार्क्सवादी सिद्धान्त में यह बताया गया है कि साम्राज्यवादी नियंत्रण और साम्राज्यवादी शोषण का अस्तित्व था। लेकिन इस साम्राज्यवादी नियंत्रण और शोषण को पूँजीवादी विकास के सिद्धान्त में इस प्रकार शामिल नहीं किया गया कि हमें पूँजीवाद के विकास का सम्पूर्ण और पूरा चित्र मिलता। किसी भी समाजशास्त्रीय

घटना की तरह पूँजीवाद कोई अमूर्त्त चीज नहीं है। यह एक ऐतिहासिक घटना है जिसे उसके सारे ऐतिहासिक पहलुओं में समझना जरूरी है। कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि अगर, मिसाल के लिए इंगलिस्तान की अर्थ-व्यवस्था में अतिरिक्त मूल्य रहा है, तो वह ब्रितानी मजदूर से ब्रितानी पूँजीपति को उतना नहीं मिला, जितना समूची हिन्दुस्तानी कौम से समूची ब्रितानी कौम को।

मैं बहुत चाहूँगा कि कोई मुझे मार्क्स और एंजेल्स द्वारा प्रस्तुत अतिरिक्त मूल्य की धारणा की ऐसी सामान्य परिभाषा बताये जिसमें इस महत्वपूर्ण असलियत के साथ न्याय किया गया हो कि अतिरिक्त मूल्य महज कोई अमूर्त्त चीज या केवल पश्चिमी यूरोप की चीज नहीं है। पिछले तीन-चार सौ सालों में पूँजीवाद के इतिहास में अतिरिक्त मूल्य सार रूप में ऐसी चीज रही है जो हिन्दुस्तान और चीन और मलाया और बर्मा से इंगलिस्तान, फ्रांस, जर्मनी और ऐसे ही अन्य देशों को जाती रही है। बेशक अब अमरीका और रूस भी इन देशों में शामिल हो गए हैं। यह पूँजीवादी विकास की बड़ी असलियत है, और इस सूरत में ऐसा कहना नाकाफ़ी है कि पूँजीवादी विकास का अन्तर्विरोध मूल रूप में पैदावार की शक्तियों और पैदावार के रिश्तों के बीच है। बल्कि कभी-कभी यह गलती बड़ी खतरनाक हो सकती है। इस बात को अगर यूँ ही, बिना और कुछ जोड़े कहा जाए, तो इसका मतलब निकलेगा कि पश्चिमी-यूरोप की हर अर्थ-व्यवस्था के अन्दर, जर्मन या ब्रितानी अर्थ-व्यवस्था के अंदर पैदावार की शक्तियों का निरन्तर विकास हो रहा है, कारखानों का परिष्कार हो रहा है, मशीनीकरण की प्रक्रिया पूरी हो रही है जिससे पैदावार की लागत घटती है, आदि, आदि। दूसरी ओर, इसके साथ ही और जर्मन या ब्रितानी अर्थ-व्यवस्था के अन्दर ही पूँजीपति और मजदूर वर्ग के सम्बन्ध ऐसे हैं कि कारखाने निरन्तर बढ़ नहीं रहे हैं, पैदावार निरन्तर बढ़ नहीं रही है। पैदावार की शक्तियों और पैदावार के रिश्तों में अन्तर्विरोध की बात को ज्यों का त्यों ले लिया जाए, तो उसकी यही व्याख्या होगी। लेकिन असलियत यह नहीं है, क्योंकि एक ऐतिहासिक घटना के रूप में पूँजीवाद ने कहीं बड़े अन्तर्विरोध पैदा किये हैं। ये अन्तर्विरोध पश्चिमी यूरोप की पूँजीवादी व्यवस्था में पैदावार की बढ़ती हुई शक्तियों और बाकी दुनिया में पैदावार की घटती हुई शक्तियों के बीच है।

पिछले तीन-चार सौ सालों में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के पहले मुख्य केन्द्र के रूप में पश्चिमी यूरोप, फिर बाद में शामिल होने वाले देश अमरीका, जापान और फिर रूस। रूस को इस सूची में शामिल करना कुछ लोगों को बिल्कुल असंगत लग सकता है, लेकिन फ़िलहाल मैं रूस को पूँजीवादी देश के रूप में नहीं, बल्कि एक खास सभ्यता, आधुनिक सभ्यता के पूरे विकास क्रम के एक प्रतिनिधि के रूप में इस सूची में शामिल करता हूँ— ये सारे देश पैदावार के अपने साधन बढ़ाते रहे हैं। मैं सबूत में कुछ आँकड़े दूँगा। औसत अमरीकी के पीछे आज दस हजार रुपये मूल्य की मशीनें हैं जिनके जरिये वह धन उत्पन्न करता है। औसत पश्चिमी-यूरोपीय व्यक्ति के पीछे पाँच हजार रुपये की मशीनें हैं, जबकि औसत हिन्दुस्तानी को डेढ़ सौ रुपये मूल्य के औजार से काम चलाना पड़ता है। जो आदमी पूँजीवादी विकास को समझना चाहता है, उसे ये तीन आँकड़े याद रखने चाहिए— प्रति व्यक्ति अमरीका के 10,000 रुपये, पश्चिमी-यूरोप के 5,000 रूपये और हिन्दुस्तान के डेढ़ सौ रुपये। पिछले तीन सौ सालों में पूँजीवादी विकास के फलस्वरूप, दुनिया के पैमानेपर पैदावार की शक्तियों की यह असली हालत है। पश्चिमी-यूरोप, रूस, अमरीका, ये खेत और उद्योग-धंधों में विज्ञान का इस्तेमाल कर सके हैं, अपनी यांत्रिकी में क्रांतिकारी परिवर्तन कर सके हैं, अपनी वार्षिक उत्पादकता को लगातार बढ़ाते रहने में सफल हुए हैं, अपने औजारों का निरन्तर परिष्कार कर सके हैं जिससे कि मनुष्य का श्रम अधिक उत्पादक हो सके। दूसरी ओर चीन और हिन्दुस्तान जैसे देशों को दो हजार साल पुराने औजारों से ही काम चलाते रहना पड़ा है, चाहे चरखा हो हल, या अन्य औजार। लेकिन हम अपनी बात को इन्हीं दो तक सीमित रखें। यांत्रिकी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और इसका नतीजा प्रति व्यक्ति पूँजी के तुलनात्मक आँकड़ों से बिलकुल साफ़ सामने आ जाता है।

लेकिन पूँजीवादी विकास के कुछ अन्य तत्त्व सारी दुनिया में एक समान रहे हैं। आबादी बढ़ती रही है। अगर हम बुद्धिपूर्वक भविष्य में अपने देश का निर्माण करना चाहते हैं, तो इस बुनियादी तथ्य को याद रखना जरूरी है। पिछले दो-तीन सौ सालों में पूरी दुनिया की आबादी तीन गुनी हो गयी है। यूरोप की आबादी तो सिर्फ एक सौ सालों में, उन्नीसवीं सदी में, चार गुनी हो गयी। अकबर के वक्त में हिन्दुस्तान की आबादी का जो

अनुमान लगाया गया था, वह अगर सही है तो वक्त की तुलना में यानी करीब चार सौ सालों में हमारी आबादी दो गुनी या करीब-करीब तीन गुनी हो गयी है, या अगले पाँच-छः सालों के अन्दर तीन गुनी हो जाएगी। आबादी बढ़ती जाती है, लेकिन औजार नहीं बढ़ते और इस कारण हम ऐसी हास्यास्पद स्थिति में है जिसमें कोई राजनीतिज्ञ लोगों को लगातार कहता रह सकता है कि वे और ज्यादा मेहनत करें, ज्यादा से ज्यादा मेहनत करें और धन पैदा करें। यह बिलकुल बेमतलब बात है। इसमें शक नहीं कि लोगों को ज्यादा समझ से काम करना चाहिए। एशिया और अफ्रीका के लोगों को समय का अधिक ध्यान रखना सीखना होगा, उन्हें अधिक नियमित होना चाहिए, अपने काम में ज्यादा जिम्मेदार होना चाहिए, लेकिन उन्हें ज्यादा मेहनती किस अर्थ में होना चाहिए–यह समझना मुश्किल है। जहाँ तक कड़ी मेहनत का सवाल है, मैं नहीं जानता कि दुनिया के किसी भी हिस्से में कोई इतनी मेहनत करता है जितनी एशिया के रिक्शेवाले करते हैं। यह जंगली किस्म का काम है जिसमें मनुष्य आधा आदमी आधा घोड़ा बन जाता है। पिछले तीन सौ सालों में पूँजीवादी विकास का यह फल है कि एशिया के लोगों की हालत आधा आदमी, आधे घोड़ा जैसी हो गयी है।

एशिया के देशों और गणराज्यों का असली प्रतीक अशोक चक्र या गरुड नहीं है। गरुड़ हिन्देशिया का चिन्ह है और अशोक चक्र भारत का। अगर मुझे एशिया के देशों का कोई सच्चा प्रतीक देना हो, तो चरखा रखूँगा और चरखे के पीछे एक ऐसा प्राणी जो आधा आदमी है, आधा घोड़ा। यह असली हालत है, पिछले तीन सौ सालों में पूँजीवादी विकास का सच्चा वर्णन है। एशिया समेत दुनिया के दो-तिहाई हिस्से में पैदावार की शक्तियाँ घटती रही हैं, आबादी बढ़ती रही है, और इसलिए रहन-सहन का स्तर घटता रहा है। दुनिया के इस दो-तिहाई हिस्से में भयंकर गरीबी रही है। ऐसा लगता है जैसे पूँजीवाद का साम्राज्य के साथ समझौता हो रहा है कि सारी प्रगति तो प्रभु देशों में होगी और सारी पीड़ा तकलीफ़ उपनिवेशों को झेलनी पड़ेगी। बढ़ती हुई तकलीफ़ और पूँजीवाद के आम संकट के जो मार्क्सवादी नियम हैं, उनके सबसे बुरे असर इन औपनिवेशिक देशों को झेलने पड़ते हैं। जारशाही के वक्त का रूस भी कभी पूरी तरह इस पिछड़ी दुनिया का हिस्सा नहीं रहा। इससे अधिक वह यूरोप का हिस्सा था। इसके पीछे नस्ल और इतिहास के कारणों के अलावा सभ्यता का वह गुण भी था जो मनुष्य जाति के एक समूह को दूसरों का विजेता और लुटेरा बनाता है। इन समूहों का जन्म भूगोल, धर्म, कोई मूल भाषा, चमड़ी का रंग और अन्य ऐसे गुणों पर आधारित प्रतीत होता है। बहुत अधिक आबादी, बहुत कम जमीन और उत्पादन के अविकसित औजार, रंगीन चमड़ी वाली दुनिया के लिए साम्राज्यवाद की यही विरासत रही है। पूँजीवादी विकास की व्याख्या मैं जिस तरह करता हूँ उसमें रूस शासक परिवार का ही सदस्य था, गो एक गरीब सदस्य था। ऐसा इस कारण था कि मनुष्य जाति का एक-तिहाई हिस्सा, लगभग सारा ही यूरोप, किसी हद तक पूँजीवादी विकास में हिस्सा बँटा सका। इसलिए रूस भले ही एक गरीब सम्बन्धी था, लेकिन था वह यूरोपीय राष्ट्रों के बड़े समूह का ही एक अंग।

क्रांति, मार्क्सवादी क्रांति, रूस में हुई। इसलिए ट्राट्स्की ने एक व्याख्या प्रस्तुत की और यह आर्कषण वाक्य कहा कि पूँजीवादी जंजीर अपनी सबसे कमजोर कड़ी पर टूट गयी। एक मार्क्सवादी, खुद मार्क्स, का कहना है कि पूँजीवाद वहाँ टूटेगा जहाँ वह सबसे मजबूत है। दूसरे मार्क्सवादी ट्राट्स्की का कहना है कि वह अपनी सबसे कमजोर कड़ी पर टूटेगा। लेनिन, चूँकि राजनेता थे, इसलिए उन्होंने इनसे कहीं ज्यादा चतुराई दिखाते हुए ऐसी बात कही जिसकी स्थिति के अनुसार अलग-अलग व्याख्याएँ की जा सकती हैं। उन्होंने कहा कि पूँजीवाद की जंजीर वहीं टूटेगी जहाँ सर्वहारा का राजनैतिक दल कारगार होगा, चाहे वह सबसे मजबूत गड़ी या सबसे कमजोर या बीच की, या कोई और। ये तीन बड़े मार्क्सवादी पूँजीवादी विकास के, और पूँजीवाद सभ्यता की जंजीर कहाँ टूटेगी, इसके तीन अलग-अलग नियम बताते हैं।

इस बात का कोई महत्व नहीं है कि इन तीनों ने अपने लेखन में किसी खास देश या देशों का जिक्र किया हो। जाहिर है कि मार्क्स या एंजेल्स या लेनिन ने जो दस हजार पृष्ठ या आठ हजार पृष्ठ लिखे होंगे, उनमें जाने कितने स्थानों की चर्चा आयी होगी। हर महान व्यक्ति की बातों में विशिष्ट स्थितियों के सन्दर्भ में परस्पर विरोधी बातें मिल जायेंगी। महात्मा गाँधी में भी हैं। कार्ल मार्क्स में भी है। हमें इन परस्पर-विरोधी बातों की तरफ ध्यान नहीं देना चाहिए, न इसको लेकर बहस करनी चाहिए, बल्कि पूँजीवादी विकास की समूची

प्रक्रिया को, उसके नियम को देखना चाहिए। उस नियम को मार्क्स या ट्राट्स्की या स्टालिन ने विशिष्ट रूप में किस तरह लागू किया, इससे निश्चय ही हमारी समझ बढ़ती है। लेकिन नियम तो बिलकुल निश्चित और अनिवार्य रूप में कहता है कि पूँजीवाद अपने विकास की प्रक्रिया में ही अपने शत्रु को जन्म देता है। वह खुद अपनी कब्र खोदने वाले पैदा करता है और अपने प्रभाव को फैलाते हुए वह सर्वहारा मजदूर-वर्ग की संख्या को भी बढ़ाता जाता है जिसकी नियति है कि वह एक दिन पूँजीवाद का नाश करे। यह नियम है। कोई अगर कार्लमार्क्स के लेखन का कोई हिस्सा दिखा दे और कहे कि देखो खुद मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि क्रांति सोवियत रूस में होगी, या लेनिन के लेखन में से कोई हिस्सा दिखा दे कि क्रांति हिन्दुस्तान में हो सकती है, तो इससे कोई बात नहीं बनती। इस तरह के हिस्से महत्वहीन, मूल्यहीन और बिलकुल बेकार हैं।

असल चीज है नियम, क्योंकि अगर हम पूँजीवादी विकास के इस खास नियम को सामने नहीं रखते तो मार्क्सवादी सिद्धान्त में सारी दुनिया के नौजवानों और अन्य लोगों के लिए जो विचित्र सा आकर्षण रहा है वह खतम हो जाता है, क्योंकि विधि के विधान की अटलता खतम हो जाती है। यह विधान मनुष्य के संकल्प करने या न करने पर निर्भर नहीं है। यह किन्हीं मानसिक प्रक्रियाओं के चलने न चलने पर भी निर्भर नहीं है। यह तो विधि का विधान है। यह पूँजीवादी विकास का विधान है कि अपने विकास की प्रक्रिया में ही वह अपने को खतम कर लेगा। यह खात्मा इसलिए होता है कि पूँजी के केन्द्रीकरण के साथ श्रम का समाजीकरण होता है और इसके साथ गरीबी बढ़ती है। इन तीनों बातों के एक साथ होने से ही मार्क्स क्रांति का आधारभूत नियम प्रस्तुत कर सके और ऐसा कह सके कि पूँजीवाद वहीं टूटेगा जहाँ वह सबसे ज्यादा मजबूत है। यह बात साफ तौर पर बिलकुल गलत है। अगर मैं मार्क्सवादी होता तो इस सिद्धान्त को सुधारने की कोशिश करता, और पिछले दिनों जो नयी जानकारी हासिल हुई है, उसे इसमें जोड़ता।

जो तीन बातें मार्क्स ने बतायी हैं, वे तीनों ही निश्चित रूप में सामने आयी हैं। कोई इसमें संदेह नहीं कर सकता कि पूँजी का केन्द्रीकरण, श्रम का समाजीकरण और बढ़ती हुई गरीबी, ये तीनों ही बातें हुई हैं। लेकिन मार्क्स ने यह सोचने में गलती की कि ये तीनों ही बातें एक ही अर्थ व्यवस्था के अन्दर, मिसाल के लिए ब्रितानी या जर्मन अर्थ-व्यवस्था के अन्दर प्रगट होंगी। इन तीनों बातों को अलग-अलग करके देखना जरूरी है। पूँजी का केन्द्रीकरण और श्रम का समाजीकरण ये दो बातें पश्चिमी-यूरोप और अमरीका की अर्थ-व्यवस्थाओं में प्रकट हुई, जबकि बढ़ती हुई गरीबी पिछड़ी अर्थ-व्यवस्थाओं में सामने आयी। इस प्रकार दुनिया के दो हिस्से दो तरह के हिस्से बने। पूँजीवादी विकास के मार्क्सवादी विश्लेषण में यह संशोधन करने के बाद मैं आसानी से नतीजा निकाल सकता हूँ कि पूँजीवादी सभ्यता उन्हीं इलाकों में टूटेगी जहाँ गरीबी बढ़ती रही है। लेकिन जैसे मैंने कहा अगर मैं मार्क्सवादी होता तो ऐसा करता और इसलिए मैं यह काम हिन्दुस्तान या बाहर के किसी मार्क्सवादी के लिए छोड़ देता हूँ। जो भी हो यह बात साफ है कि पूँजीवादी विकास के नियमों का विश्लेषण करते समय हमें अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त पर, पूँजीवाद के अन्तर्विरोध और क्रांति सम्बन्धी नियम पर नये सिरे से विचार करना होगा और इसलिए समूची रणनीति और तात्कालिक कार्य पद्धति पर भी दोबारा सोचना होगा क्योंकि मार्क्सवादी राजनीति और तात्कालिक कार्यपद्धति पूँजीवादी विकास के उसके नियम का अनिवार्य परिणाम हैं।

इस नतीजे पर पहुँचने के बाद कि पूँजीवादी सभ्यता विकसित अर्थ व्यवस्थाओं के इलाकों में टूटेगी, मार्क्स के सामने फिर कोई चिन्ता नहीं रह गयी थी। बढ़ते हुई उत्पादन की शक्तियाँ मौजूद होंगी ही। सिर्फ इतना ही करने की जरूरत होगी कि पूँजीवादी स्वामित्व को खतम करके सामाजिक स्वामित्व स्थापित कर दिया जाय। कारखाने पहले से मौजूद होंगे। विकसित अर्थ-व्यवस्था के सभी जरूरी तत्व मौजूद होंगे। पूँजीवादी नियंत्रण खतम करनेकी एकमात्र जरूरत भी पूरी हो जाएगी। सामाजिक मलकियत स्थापित हो जाने के बाद अर्थ-व्यवस्था विकसित होती जायगी और लोगों की जरूरतें पूरी करती रहेगी। लेकिन चूँकि पूँजीवादी विकास का यह नियम सार रूप में गलत रहा है, और चूँकि संभावना यह है कि पूँजीवाद की जंजीर उस इलाके में न टूटे जहाँ पैदावार की शक्तियाँ विकसित हैं, बल्कि उस इलाके में टूटें जहाँ पैदावारी की शक्तियाँ अवरुद्ध रही हैं, उनकी बाढ़ रुकी रही है, इसलिए बिलकुल नये ढंग से सोचना जरूरी हो जाता है।

मिसाल के लिए, मान लीजिए कि जंजीर

हिन्दुस्तान में टूटती है। प्रति व्यक्ति डेढ़ सौ रुपये की पूँजी लेकर हम क्या काम करेंगे? हमारे पास कुल पूँजी इतनी ही है। खेती की जमीन में इस वक्त जो हालत है, उस पर भी मैं जोर देना चाहूँगा। भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर से पूँजीवादी नियंत्रण हट जाने के बाद हमारे सामने ऐसी समस्याएँ आयेंगी जिन्हें मार्क्सवादी सिद्धान्त में बिलकुल भी पचाया नहीं गया है, क्योंकि मार्क्सवादी सिद्धान्त में तो पूँजीवादी जंजीर के टूटने से कितनी ही समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। किसी संगत और काम लायक समाज-शास्त्रीय या आर्थिक सिद्धान्त के लिए जरूरी होगा कि वह इन समस्याओं का सामना करे और उन्हें पचाये, ताकि समाज का पुनः निर्माण किया जा सके।

जुड़वाँ संतानें

आखिरकार, पूँजीवादी नियंत्रण हट जाने के बाद हिन्दुस्तान में हम क्या करेंगे? प्रति व्यक्ति डेढ़ सौ रुपये के औजार है और अगर हम अमरीका या रूस के जैसा रहन-सहन चाहते हैं तो हमें इन औजारों को बहुत अधिक बढ़ाना पड़ेगा। इसका मतलब क्या होगा? अगर हिन्दुस्तान के लिए रूस या अमरीका जितनी पूँजी इकट्ठी करनी हो, तो लगभग 20 करोड़ लोगों को काम देने के लिए दस हजार रुपये प्रति व्यक्ति पूँजी लगानी होगी। यानी 2,00,000 करोड़ रुपये या 2000 अरब रुपये। अगर हम पाँच हजार रुपये प्रति मजदूर का हिसाब भी रखें तो 1000 अरब रुपयों की पूँजी चाहिए। इसकी तुलना हम भारत की पहली पंचवार्षिक योजना का मामूली सी रकमों से करें। पाँच सालों में 18 अरब से 25 अरब रुपये तक यानी तीन या पाँच अरब रुपये वार्षिक और हमें जरूरत होगी एक हजार अरब से दो हजार अरब रुपये के बीच की पूँजी की। इसके लिए कितने साल लगेंगे? मोटे तौर पर दो सौ साल से भी ज्यादा। हम मान लें कि भारत का कांग्रेसी शासन बाद में विकास की गति को तेज कर सकेगा और गुणक तत्व भी काम करने लगेंगे तब भी कम से कम सौ या अस्सी साल लगेंगे। सारी चीज बिलकुल बेमतलब है। कोई भी बुद्धिमान आदमी इस पर सिर्फ हँसेगा।

एक मिनट के लिए मान लीजिए कि कोई ज्यादा निर्मम और ज्यादा चेतन अवस्था कायम हो जाए, जिसे पता हो कि उसका मकसद क्या है और जिसका आधुनिक सभ्यता के साथ इतना लगाव हो गया हो कि वह इस सभ्यता की ओर पूरी तरह आकर्षित हो। मान लीजिए कि साम्यवादी दल सत्तारूढ़ हो जाता है। जिन्दगी को कायम रखने की कम से कम जरूरतों को तनखा या आमदनी के बीच जो बहुत थोड़ा-सा फर्क है, बल्कि जहाँ तक बहुसंख्यक जनता का सम्बन्ध है, कोई फर्क है ही नहीं, उसे देखते हुए पूँजीगत साधनों के विकास की रफ्तार क्या होगी? इस देश में चाहे जितनी निर्मम राजनीतिक व्यवस्था कायम कर दी जाए, मौजूदा दामों के स्तर पर दस अरब रुपये सालाना से ज्यादा की पूँजी लगाने की बात सोचना संभव नहीं है। मैं मान लेता हूँ कि कोई निर्मम व्यवस्था हो, तो वह एक करोड़ या दो करोड़ या पाँच करोड़ लोगों को खतम करने को तैयार हो जाएगी। जब लोग नये समाज या नयी सभ्यताएँ बनाने की बात सोचते हैं तो फिर धार्मिक व्यक्तियों और राजनीतिक व्यक्तियों से ज्यादा क्रूर कोई और नहीं होता। इसलिए कि ये दोनों किसी आदर्श में लिप्त होते हैं और उस आदर्श को अमल में लाने के लिए क्या कीमत देनी पड़ती है, इसका उनके लिए कोई महत्व नहीं होता। इसलिए मैं यह मानने को तैयार हूँ कि साम्यवादी दल पूँजी लगाने की रफ्तार को दो गुना या तीन गुना करने में सफल हो जायेगा। इसका मतलब क्या होगा? मेरा ख्याल है, अस्सी साल या गुणक तत्व की गति ज्यादा बढ़ी तो साठ साल। इससे कम नहीं। इसके आगे जा ही नहीं सकते। ज्यादा से ज्यादा निर्मम व्यवस्था, जो बड़े पैमाने पर हत्या करे और एक करोड़ या दो करोड़ या पाँच करोड़ लोगों को खतम करने से न हिचके, उसमें भी कम से कम साठ या सत्तर साल। इस बीच रूस और अमरीका की पहले से विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ और कितनी आगे चली जाएँगी?

मान लीजिए कि समाजवादी दल सत्तारूढ़ हो जाता है, तो मैं नहीं जानता कि वह क्या करेगा। अगर इस वक्त देश पर शासन करने वाले लोग तथाकथित आधुनिक आदर्शों में उसी तरह लिप्त रहें, और उन्होंने भी अमरीकी या रूसी व्यवस्थाओं की नकल करने की कोशिश की, तो उनकी हालत भी कांग्रेस या साम्यवादियों जैसी होगी, यद्यपि वे शायद साम्यवादियों जितने निर्मम नहीं होंगे। शायद वे उतने निर्मम हो ही नहीं सकते, और इसलिए वे साम्यवादियों से कुछ खास ज्यादा काम नहीं कर पायेंगे, क्योंकि वे उतने निर्मम नहीं होंगे। स्वैच्छिक श्रम की मदद से, शायद वे शुरू के चरणों में जब देश की ज्यादा आबादी मिसाल के लिए एक घंटा रोज अपना श्रम देश को देने को तैयार होगी,

मुमकिन है कि वे पाँच या दस अरब सालाना की पूँजी लगा सकें।

दुनिया के दो तिहाई हिस्से के रहन-सहन और पैदावार के औजारों को बाकी एक-तिहाई के बराबर लाने की बात बिल्कुल बेमतलब है, इतना तो साफ है और इसके सबूत में मैंने आँकड़े भी दे दिये हैं। इस असलियत की, पिछले तीन सौ सालों में पूँजीवादी विकास के इस बुनियादी तत्व की उपेक्षा करना आत्मघाती काम होगा। एशियाई, अफ्रीकी, दक्षिण अमरीकी, लोगों के लिए तो यह खास तौर पर मारक होगा। पूँजीवाद और साम्राज्यवाद जुड़वाँ रहे हैं। साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अंतिम चरण नहीं है, जैसा किसी ने कहा था बल्कि ये दोनों जुड़वाँ रहे हैं। वे एक साथ पैदा हुए, एक साथ बढ़े, एक साथ प्रौढ़ हुए और दुनिया के सारे इतिहास में जुड़वाँ पैदा हुए पूँजीवाद या साम्राज्यवाद से ज्यादा दुष्ट व्यवस्था मेरी नजर में नहीं आयी जिसने दुनिया की यह हालत कर दी है कि अमरीका, रूस और पश्चिमी यूरोप में तो पाँच हजार या दस हजार रुपये प्रति व्यक्ति के हिसाब से औजार हैं, जबकि हिन्दुस्तान, बर्मा, मलाया और अन्य देशों को प्रति व्यक्ति डेढ़ सौ या तीन सौ रुपये के औजारों से ही काम चलाना पड़ता है। यही पूँजीवादी विकास है और इसलिए यह बिलकुल साफ है कि क्रांति और वर्ग संघर्ष की रणनीति के बारे में नये सिरे से सोचना होगा।

यहाँ मुझे उन बातों की चर्चा कर देनी चाहिए जो मुझे मार्क्सवाद के खास आकर्षक गुण लगते हैं। नौजवानी में इसके अन्य गुण भी मुझे आकर्षित करते थे, लेकिन आज मुझे मार्क्सवाद का सबसे आकर्षक गुण यह लगता है कि अगर किसी ने इस सिद्धान्त को गहराई तक समझा है, और इसे स्वीकार लिया है तो फिर उसमें सम्पत्ति का कोई मोह नहीं रह जाता। यह एक बड़ा ही आकर्षक गुण है, ऐसा गुण जिसका कभी-कभी मूलतः धार्मिक लोगों पर भी बड़ा असर पड़ता है। एक तरह से यह निर्लिप्त होने की एक क्रिया है। अगर किसी व्यक्ति का मार्क्सवाद से बहुत गहरा परिचय हो और उससे गहरा लगाव हो जाए तो फिर हो सकता है कि अन्य मामलों में वह बहुत दुष्ट हो, धोखेबाज और जालसाज हो, बदतमीज हो, कपटी, झूठा और हत्यारा हो, लेकिन उसको निजी सम्पत्ति में कोई लगाव नहीं होगा और यह मार्क्सवाद का सबसे बड़ा गुण है। जहाँ तक दूसरे लोगों को मजूरी पर रख कर उनसे काम लेने का सवाल हो, वहाँ तक धन के प्रति नफरत पैदा करना कोई मामूली चीज नहीं है, और इसलिए इतिहास की पृष्ठभूमि में इसे मैं मार्क्सवाद की सबसे बड़ी उपलब्धि कहूँगा, कि इसके जरिए अपने-आप, बिना किसी साधना के, व्यक्ति का दिमाग ऐसा बन जाता है कि सम्पत्ति से उसे कोई लगाव नहीं रह जाता।

मार्क्सवाद एक ऐसा नचिकेता है जो स्वयं ही कंचन का त्याग करता है। मुमकिन है कि यह सिद्धान्त, गीत या सौन्दर्य या राजदंड का परित्याग न कर सके और गीत तथा सौन्दर्य का परित्याग करना भी कौन चाहेगा, लेकिन इसमें शक नहीं कि कंचन का परित्याग करता है। यही उसका आकर्षण है

अब हम विकास के नियमों पर नजर डालें, तो निश्चय ही स्वचालित नहीं हैं। अगर हिन्दुस्तान के तुलनात्मक आँकड़ों का, और इसका अध्ययन करने के बाद कि मार्क्सवादी आधार पर विकास की कोशिशों का क्या नतीजा निकलेगा हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह सारी चीज बेमतलब है, तो फिर आगे रास्ता क्या है? विकास हो कैसे सकता है? या हमें यही मान लेना पड़ेगा कि विकास हो ही नहीं सकता? तरह-तरह की समस्याएँ पैदा हो जाती हैं और मैं नहीं जानता कि मार्क्सवादी सिद्धान्त में कोई ऐसी चीज है जो इन समस्याओं को हल कर सके। वह क्या चीज है जो दो-तिहाई दुनिया को इस लायक बनायेगी कि वह अपने रहन-सहन को एक अच्छे स्तर पर ला सके? मैं इस बात को आगे बढ़ाऊँ, इसके पहले कह दूँ कि सत्तर या अस्सी साल की जो जरूरत मैंने किसी निर्मम व्यवस्था के लिए बतायी थी, उतने अरसे में भी एशिया में यह चमत्कार नहीं हो सकता। वह केवल अंकगणित का हिसाब था। असलियत में जब इन अस्सी सालों में कोई निर्मम व्यवस्था खुद अपनी आबादी के एक हिस्से को खतम करेगी, एक हिस्से का आधुनिकीकरण करेगी, और दूसरे हिस्सों को पिछड़ा छोड़ देगी, तो ऐसे तनाव पैदा होंगे कि वह व्यवस्था अपनी कौम के अन्दर कोई नयी भावना या गति उत्पन्न नहीं कर सकेगी। यही बात पूँजीवाद और कांग्रेस पार्टी जैसे उसके मूर्त्त रूपों के साथ भी है। इसलिए, जब मैंने अस्सी साल की बात कही तो कोई यह न समझ बैठे कि अस्सी साल बाद भी साम्यवाद या समाजवाद या पूँजीवाद हिन्दुस्तान में यह चमत्कार कर सकते हैं। इतनी गड़बड़ और झंझट होगी, विकसित और अविकसित क्षेत्रों के बीच इतना तनाव

और प्रतिद्वन्द्विता होगी कि बड़े पैमाने पर हत्याएँ आदि घटनाएँ होंगी और शायद इसका अनिवार्य परिणाम होगा राज्य का पूर्ण विनाश।

एशिया, अफ्रीका और दो-तिहाई दुनिया के बाकी हिस्से पश्चिमी यूरोप जैसी सभ्यता का निर्माण कर सकते हैं, मैं इसे संभव नहीं पाता। अगर कोई बड़ा संकट गुजरे या और कोई असंभाव्य या ऐसी घटना हो जाए जिसके बारे में अभी कुछ सोचा नहीं जा सकता, तो साथ साथ यह भी मानना होगा कि तब यूरोप-अमरीका पिछड़ जाएँगे या उपेक्षित हो जाएँगे। पूराचक्र फिर से दोहराया जाएगा। मनुष्य-जाति को ऐसे किसी ऐतिहासिक विकास से कोई लाभ नहीं होगा। उतार-चढ़ाव या प्रभुत्व के खेल में रंगीन चमड़ी वाले लोग ऊपर आ जाएँगे, गोरे लोग नीचे गिरेंगे। पिछले तीन-चार सौ सालों में पूँजीवाद एक ऐतिहासिक घटनाक्रम के रूप में प्रकट हुआ। अब वह मर रहा है। उसने अपना काम किया। उसका काम खराब था, लेकिन चतुराई भरा था। मनुष्य-जाति के यूरोपीय हिस्से को पूँजीवाद ने कुछ राहत पहुँचाई। मार्क्सवाद की एक और कमी इस तथ्य के साथ जुड़ जाती है। मार्क्सवादी कहते हैं कि इतिहास के एक चरण में पूँजीवाद से मनुष्य जाति की प्रगति हुई। अब वह प्रगति रुक गयी है। पूँजीवाद पहले कभी प्रगतिशील था, लेकिन अब प्रतिगामी हो गया है। मार्क्सवाद ने पूँजीवादी विकास का जो दोषपूर्ण विश्लेषण किया है, यह स्थापना उसका अनिवार्य परिणाम है। पूँजीवादी विकास का सही विश्लेषण करने पर कहना होगा : पूँजीवाद के द्वारा अतीत में मनुष्य जाति के यूरोपीय अंश की बड़ी प्रगति हुई, लेकिन यह प्रगति अब रुक रही है। मनुष्य जाति के बाकी हिस्से की पूँजीवाद के जरिये कभी कोई प्रगति नहीं हुई। शुरू में ही पूँजीवाद के अंदरूनी और बाहरी दायरों को न देखकर पूरे विश्व की अर्थ-व्यवस्था को एक मान लेने के कारण, इस तरह की बातें अब भी कही जाती हैं, जो साफ तौर पर बिल्कुल गलत हैं। इसके अलावा मुझे यह बड़ा ही हास्यास्पद लगता है जब कोई एशियावासी या किसी उपनिवेश का निवासी इस फूहड़ सिद्धान्त को दोहराता फिरता है कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अंतिम चरण है, जबकि वह इसे अच्छी तरह जानता है कि दोनों जुड़वा पैदा हुए थे और जुड़वा ही विकसित हुए हैं।

समाजवादी मार्ग

अब क्या हो? यह जरूरी नहीं है कि खेती-कारखानों में विज्ञान का इस्तेमाल उसी तरह किया जाय जैसे अब तक होता रहा है। यह जरूरी नहीं है कि पूँजीकरण अमरीका और रूस के स्तर का ही हो और निरन्तर बढ़ाया जाए। नये औजारों का आविष्कार और निर्माण करने की जरूरत पड़ सकती है। मेरे दिमाग में एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था है जिसमें प्रति मजदूर पूँजी रूस या अमरीका के मुकाबले की नहीं होगी, लेकिन हिन्दुस्तान की तरह कम भी नहीं होगी, बल्कि इतना काफी बढ़ेगी जिससे अच्छा रहन-सहन हासिल किया जा सके और आधुनिकीकरण तथा अनाधुनिकीकरण के दबावों से मुक्ति मिले। बहुत मोटे हिसाब से, ऐसी पूँजी लगभग एक हजार रुपया प्रति मजूदर हो सकती है। (1952 में अब तक दामों में जो वृद्धि हुई है, उसे देखते हुए अब यह रकम लगभग चार हजार रुपये होगी—सं0) हम मान लें कि हमारे पास प्रति वर्ष 10 अरब रुपये पूँजी लगाने के लिए उपलब्ध हैं। रूस या अमरीका में आधुनिकीकरण का जो स्तर है, उस हिसाब से इतनी पूँजी लगाने पर दस लाख लोगों को रोजगार मिल सकेगा। इसके विपरीत अगर हम ऐसी मशीनी पद्धति को अपनायें जिसमें पूँजीकरण इतना ऊँचा न हों, बल्कि औसतन प्रति मजदूर लगभग एक हजार रुपये के औजारों पर आधारित हो, तो उतनी ही पूँजी से एक करोड़ लोगों को रोजगार मिल सकेगा। ऐसे पूंजीकरण के जरिए, ऐसे औजारों के जरिए जिनसे आज की हालत में सुधार हो, लेकिन हमारी अर्थ-व्यवस्था पर इतना बोझ न पड़े कि आधुनिकीकरण का लाभ सिर्फ एक छोटे से हिस्से को मिले और बाकी लोग उससे वंचित रह जाएँ, हम दुनिया के उस दो-तिहाई हिस्से की अर्थ-व्यवस्था का पुनःनिर्माण कर सकते हैं, जिसे पूँजीवाद ने अपने इतिहास के दौरान तबाह कर डाला।

एक हद तक ये औजार अभी भी उपलब्ध हैं। कम से कम उसके कुछ नमूने मौजूद हैं। इनकी बहुतायत अभी नहीं है। ऐसे बहुतेरे औजारों का आविष्कार और निमाण करना होगा। कुछ लोग यहाँ कर सकते हैंः जरा इस राजनीतिज्ञ को देखो जो आविष्कार करने वालों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों और कारीगरों को उनका काम बताने की कोशिश कर रहा है। मैं इस बात से पूरी तरह सहमत हूँ कि किसी मौलिक खोज कार्य करने वाले को यह बताने का हक किसी राजनीतिज्ञ को नहीं है कि व किस दिशा में खोजकार्य करें। मैं सैद्धांतिक भौतिकी के किसी विद्वान को यह बताने की कोशिश कभी नहीं

करूँगा कि परमाणु या अन्तरिक्ष सम्बन्धी गणना का काम वह कैसे करे। ऐसा करना न सिर्फ अहंकार-प्रदर्शन होगा, बल्कि मूर्खता होगी। लेकिन अर्थशास्त्र और राजनीति के किसी विद्यार्थी को, खास तौर पर किसी ऐसे प्रशासक को, जिसके हाथ में देश के भाग्य का निर्माण हो, निश्चय ही इंजीनियरों और कारीगरों से कहने का हक है कि वे कुछ खास तरीके की मशीनें बनाने की कोशिश करें। आखिरकार जो आविष्कार हुए हैं वे वैज्ञानिकों और कारीगरों की अपनी मर्जी से नहीं हुए हैं। आदेशों के अनुसार आविष्कार किये गये हैं। विनिर्माताओं की प्रयोगशालाओं में सुधार का काम लगातार होता रहता है। मैं कोई कारण नहीं देखता कि व्यर्थ की जाँच-पड़ताल में आज कल जो ढेर सारा पैसा खर्च होता है, उसकी जगह एक वैज्ञानिक प्रबन्ध मंडल बना कर उसे यह काम क्यों न सौंपा जाए कि वह इन छोटी मशीनों के आविष्कार करे।

गोरे देश पिछली चार सदियों में कभी उस तरह जीते नहीं गए और दूसरों के कबजे में नहीं रहे, जैसे कि उपनिवेशों के लोग। वहाँ आबादी के साथ-साथ उत्पादन-व्यवस्था भी बढ़ी। और इस तरह गोरे देशों के अन्दर खेती-कारखानों में विज्ञान के लगातार इस्तेमाल से उनमें सम्पन्नता और ताकत आयी। अमरीका में काफी अरसे से, और रूस में इन दिनों, बढ़ती हुई पैदावार के बाहरी यथार्थ ने और बढ़ते हुए रहन-सहन के स्तर के व्यक्तिगत लोभ ने ऐसे मनुष्य को जन्म दिया है जो सभी मुख्य बातों में एक जैसा है। इस आर्थिक अनुभव से मेरे सिद्धान्त को अंतिम प्रमाण मिल जाता है, जिसके अनुसार श्री फोर्ड और श्री स्टॉलिन में, पूँजीवाद और साम्यवाद में, कोई विशेष अन्तर नहीं है। जहाँ तक इस धरती पर मनुष्य के छोटे से इतिहास के वर्तमान क्षण का सम्बन्ध है, दोनों एक ही सभ्यता के अंग हैं, यद्यपि दोनों के बीच इस समय मारक संघर्ष चल रहा है। ऐसा लगता है कि रूस को सफलता मिल गई है। इस समय रूस दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी ताकत है। पहले कभी ऐसा न रहा हो, ऐसा नहीं है। इतिहास के विद्यार्थी अक्सर इस बात को भूल जाते हैं कि एक समय यूरोप में रूस के जार अलेक्जेन्डर का प्रभाव ऐसा था जैसे वह पूरे यूरोप का मालिक हो। रूस अतीत में भी बहुत कमजोर नहीं था, लेकिन एक मिनट के लिए मान लें कि इधर रूस को जो सफलता मिली है, वह साम्यवाद या मार्क्स के सिद्धान्त का चमत्कार है। मनुष्य के दिमाग पर, खास तौर से पिछड़े इलाकों में जो दिमाग मिलता है, उस पर इसका जबर्दस्त असर पड़ता है कि मार्क्स के जरिये अगर रूस इतना कर सकता है, तो हम क्यों नहीं कर सकते। अगर रूस अपनी खेती कारखानों को बढ़ाकर अमरीका के मुकाबले पर ला सकता है, तो हम हिन्दुस्तान में या चीन में ऐसा क्यों नहीं कर सकते। रूस सम्बन्धी आँकड़ों को अगर देखें, तो वहाँ आबादी की सघनता बहुत कम है, प्रति वर्ग मील 20 आदमी। खेती की जमीन ज्यादा है और जारशाही के काल में भी इस्पात की पैदावार रूस में हमारी आज की पैदावार से ज्यादा थी, यूरोप-अमरीका के अन्य देशों के मुकाबले में भी ऐसी बहुत कम नहीं थी। इससे प्रकट होता है कि रूस यूरोपीय सभ्यता का एक गरीब सदस्य था, लेकिन था उसी परिवार का सदस्य। उसके लिए यह काम संभव था। लेकिन हिन्दुस्तान में आबादी प्रति वर्ग मील 300 व्यक्ति है। चीन में हिन्दुस्तान के आधे से कुछ कम है। लेकिन बड़ी से बड़ी क्रूरता के बाद भी, इन देशों में क्या यह काम हो सकता है? लेकिन आदमी का दिमाग कमजोर होता है। वह छबियों को लेकर सोचता है। वह रूस की छवि देखता है और जब वह देखता है कि पूँजीवाद से एशिया की आर्थिक समस्याएँ बिलकुल भी हल नहीं हो सकती, तो रूसी तरीके की तरफ भागता है कि जो काम रूस में हो सका, वह हिन्दुस्तान और चीन में भी हो सकता है।

इस बात के अलावा कि इस तरीके में बड़ी क्रूरता और मनुष्य के मन की बड़ी विकृति शामिल होगी, जो तथ्य ऊपर दिये गये हैं उनमें जाहिर है कि यह तरीका अवश्य ही असफल होगा। हिन्दुस्तान में, या चीन में, गो चीन में कुछ कम, अगर मार्क्सवादी सिद्धान्त को ज्यों का त्यों लागू किया गया कि पूँजीवादी रिश्तों को तो खत्म कर दिया जाए लेकिन पैदावार को उन्हीं शक्तियों को अपनाया और बढ़ाया जाए जिनका इस्तेमाल पूँजीवाद ने किया, तो उससे अनिवार्य ही तबाही होगी। रूस ने तो पाप करने के बाद सफलता और सुख को हासिल कर लिया। सफलता अपने आप में एक गुण होती है क्योंकि लोग आम तौर पर सफलता हासिल करने के लिए किए गये पापों को भुला देते हैं। अगर हिन्दुस्तान कभी इस पाप-मार्ग पर चला तो इसका फल केवल क्रूरता ही नहीं होगी, अन्त में असफलता ही हाथ लगेगी। साम्यवाद, समाजवाद या पूँजीवाद किसी रास्ते अगर हिन्दुस्तान में पिछले तीन-सौ सालों की आधुनिक

सभ्यता को प्रतिष्ठित करने की कोशिश की गयी, तो उसका फल केवल बाँझ क्रूरता होगी, ऐसी क्रूरता जिससे कुछ हाथ लगने वाला नहीं।

अब जहाँ तक इस विश्लेषण का सम्बन्ध है, हम अगर मार्क्सवाद और समाजवाद में फर्क देखें तो यह मानना होगा कि मार्क्सवाद या साम्यवाद सिर्फ आधी दूर तक जाते हैं। वे केवल पैदावार के पूँजीवादी रिश्तों को खत्म करने की बात सोचते हैं, जबकि किसी सच्चे समाजवादी को पैदावार के पूँजीवादी रिश्तों के साथ-साथ पैदावार की पूँजीवादी शक्तियों को भी खत्म करने की या कम से कम एक बड़ी हद तक उन्हें नया रूप देने की बात सोचनी होगी। उसे ऐसे समाज या सभ्यता की रचना के बारे में सोचना होगा जिसमें मजदूर और किसान और अन्य पेशों के लोगों को ऐसे औजार तो हासिल होंगे जिनसे वे अधिक धन पैदा कर सकें, लेकिन जिसमें रहन-सहन के स्तर को लगातार बढ़ाते रहने का न तो व्यक्तिगत लोभ हो, न लगातार बढ़ते स्तर की बाहरी ीअसलियत। इसलिए समाजवादियों को एक साथ दो काम करने हैं। साम्यवादी केवल एक काम करता है। वह पूँजीपति वर्ग को समाप्त कर देता है और बात वहीं खतम हो जाती है। समाजवादी को पूँजीपति वर्ग को समाप्त करने के साथ-साथ पैदावार की उन पद्धतियों को भी समाप्त करना होगा जो पूँजीवाद ने दुनिया को दी हैं। यह दोहरा काम है।

अनिवार्य ही, इस दोहरे काम में तरह-तरह की कठिनाइयां और खतरे सामने आते हैं और वर्ग संघर्ष की शक्ल भी बदल जाती है। साम्यवादियों के लिए वर्ग संघर्ष आसान बात है। उसका एक ही लक्ष्य है और आदमी एकाग्र होकर उस लक्ष्य के लिए काम कर सकता है– पूँजीपति वर्ग को समाप्त करना। इस खास लक्ष्य की प्राप्ति में अगर समाज के किन्हीं सामान्य लक्ष्यों की बलि देनी पड़ी है, तो साम्यवादी या मार्क्सवादी के लिए उसका कोई महत्व नहीं। इसके लिए मुझे कोई प्रमाण देने की जरूरत नहीं। प्रमाण बहुतेरे मौजूद हैं। वास्तव में, जहाँ तक इनके सिद्धान्त का सम्बन्ध है, ये लोग काफी ईमानदार रहे हैं और अपने सिद्धान्त में इन्होंने साफ-साफ माना कि छल, झूठ और हत्या जब क्रांति के उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक हों तो ये अनिवार्य और जरूरी औजार बन जाते हैं। झूठ और हत्या का जो इस्तेमाल ये करते हैं; वह इनके इस मूल सिद्धान्त की दृष्टि में और भी घिनौना हो जाता है कि उनके लिए सबसे बड़ा और सर्वग्राही गुण है क्रांति। एक बार क्रांति हो जाने पर हर चीज स्वयं शुद्ध हो जाती है और सुधरती है। सम्पत्ति के पूँजीवादी रिश्तों को खतम कर दें तो मनुष्य सुधरता है, शोषण समाप्त हो जाता है, वस्तुएँ प्रशासित होती हैं और स्वर्ण युग आरंभ होता है। उस स्वर्ण युग को लाने के लिए, जिसका नैतिक स्तर बहुत ऊँचा है, जिसमें बहुतेरे बड़े गुण हैं और व्यक्तिगत मूल्यों की प्रतिष्ठा भी है, अगर झूठ बोलना और हत्या करना आवश्यक हो, तो ये काम केवल उस महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किये जाएँगे, और इसलिए उचित होंगे। सारी नैतिकता सापेक्ष होती है। कुछ भी निरपेक्ष और पूर्ण नहीं है। जिस तरीके से भी जरूरी हो, विश्व क्रांति के लक्ष्य को हासिल करना बिलकुल उचित है और इसलिए लेनिन ने साफ-साफ छल और बल-प्रयोग का समर्थन किया, जो मार्क्स ने नहीं किया था।

पूँजीवाद के अपने सामान्य सिद्धान्त के कारण मार्क्स शुरू से आखिर तक लोकतंत्र के समर्थक रहे। सार रूप में, और बुनियादी तौर पर उनका दिमाग लोतांत्रिक था, क्योंकि वे अपने सिद्धान्त के सन्दर्भ में सोचते थे और उनका सिद्धान्त था कि क्रांति वहाँ होगी जहाँ उत्पादन की शक्तियाँ विकसित हैं। उनके दिमाग में न ऐसे देश थे जिन्हें आर्थिक दृष्टि से असभ्य और पिछड़ा हुआ कहा जा सकता है, न हिन्दुस्तान, रूस और चीन जैसे अर्ध-सभ्य या अल्प विकसित देश। वे इंग्लिस्तान और जर्मनी के संदर्भ में सोचते थे, जहाँ क्रांति होने की आशा थी, जहाँ लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ जारी रहतीं और अधिक गंभीर बनतीं। मार्क्स ने कहीं-कहीं बल-प्रयोग की बात कही थी, लेकिन छल, झूठ और दुराचरण की वह पूरी रणनीति और कार्यपद्धति प्रस्तुत नहीं की थी जो लेनिन ने प्रस्तुत की, शायद इस कारण कि लेनिन को पिछड़ेपन की स्थितियों में काम करना पड़ा। लेनिन एक बड़े आदमी थे। ऐतिहासिक दृष्टि से ये लोग बड़े लोग थे। उन्होंने ऐसी स्थितियों में काम किया जो बिलकुल भिन्न और असमान थीं और इसलिए क्रांति के हित में उन्होंने क्रांति के समर्थकों से छल का प्रयोग करने को कहा। उन्होंने इस तरह की भाषा का प्रयोग किया कि संसदीय प्रणाली की संस्थाओं को तोड़ने के लिए उनका इस्तेमाल करना, मजदूर वर्ग की सफलता के लिए झूठ बोलना और इधर-उधर कोई जान चली जाए, हत्या हो जाए, तो उसके बारे में कुछ सोचना या बोलना नहीं। अगर उस तरह के वर्ग-संघर्ष

के बारे में सोचते रहना संभव हो, लेकिन उसका फल केवल बांझ क्रूरता हो, तो मेरा यह कथन बिलकुल सही है कि इससे पाप-मार्ग पर चल कर भी हमें सुख नहीं मिलेगा। अगर आगे चल कर सफलता या सुख मिलने वाला हो, तो कभी-कभी पाप करने की तबियत होती है।

जब अन्त में सफलता न मिलने वाली हो, तब अगर जिन्हें हम बुरे साधन कहते हैं, उनका इस्तेमाल क्रांति और वर्ग-संघर्ष की कार्य-पद्धति का आवश्यक अंग बन जाता है, तो फिर पूँजीवादी विकास के सामान्य सिद्धान्त के बारे में और वर्ग-संघर्ष के एक ऐसे रूप के बारे में सोचना जरूरी हो जाता है जिसमें तात्कालिक साक्षात्कार का सिद्धान्त शामिल हो। कार्लमार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का जो सिद्धान्त रखा था उसमें तात्कालिक साक्षात्कार शामिल नहीं था। वे जर्मनी और इंगलिस्तान में चल रहे वर्ग-संघर्ष के सन्दर्भ में सोच रहे थे। हिन्दुस्तान या चीन में वर्ग-संघर्ष का क्या रूप हो सकता है, इसकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अब हमें इसके बारे में सोचना है, तो इस सवाल पर गौर करना जरूरी हो जाता है। जो आर्थिक लक्ष्य अन्ततः मरीचिका ही सिद्ध होने वाला है, उसे प्राप्त करने की कोशिश में समाज के व्यापक लक्ष्यों से लड़ना क्या उचित है।

यहाँ हमें उस खाई की तरफ ध्यान देना होगा जो समाज के व्यापक लक्ष्यों और समाज के आर्थिक लक्ष्यों के बीच पैदा हो गयी है। मार्क्स के सिद्धान्त में यह खाई नजर नहीं आती, क्योंकि वह एक स्वतः संपूर्ण सिद्धान्त है, लेकिन उसकी आर्थिक आधार-स्थापनाएँ गलत हैं। अगर यह सिद्धान्त आर्थिक दृष्टि से सही होता तो हम कम से कम इतना कह सकते थे कि इस सिलसिले में चाहे जो भी काम हो, अन्त में एक सम्पन्न समाज की उपलब्धि के बाद, जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण बन्द हो जाता है, हमें एक ऐसा समाज भी मिल जाएगा जिसमें सच्चाई और सदाचरण होगा और पड़ोसी शांतिपूर्वक रहेंगे। लोकतंत्र, सच्चाई, सदाचरण, मन और दुनिया की शांति और संस्कृति की एक सामान्य स्थिति, ये सब समाज के सामान्य लक्ष्य हैं। मार्क्स के अनुसार साम्यवाद या समाजवाद के आर्थिक लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर समाज के ये सामान्य लक्ष्य अपने आप ही बढ़ेंगे। लेकिन चूँकि दुनिया के दो-तिहाई हिस्से में साम्यवाद या मार्क्सवादी समाजवाद द्वारा प्रस्तुत समाज के आर्थिक लक्ष्य फलीभूत हो ही नहीं सकते, इसलिए इन आर्थिक लक्ष्यों की मरीचिका के पीछे भागते रहना और इसके लिए सामान्य लक्ष्यों की बलि चढ़ा देना बहुत ही खतरे का और बेवकूफी का काम होगा। यह इस तरह का काम होगा कि महज अज्ञान के कारण मनुष्य अच्छाई के एक पहलू का प्रत्यक्ष बलिदान इस झूठी आशा में कर दे कि एक अन्य पहलू की उपलब्धि से जिसकी आज बलि दी जा रही है, वह पुनर्जीवित हो उठेगा। इसके अलावा कि आर्थिक सिद्धान्त में व्यापक सुधार की जरूरत है, एक ऐसे सुगठित सिद्धान्त की जरूरत है जिसमें सामान्य लक्ष्यों और आर्थिक लक्ष्यों को अलग-अलग ध्यान में रखा गया हो।

शायद छोटी मशीनों के जरिये हिन्दुस्तान जैसे देशों के लिए यह मुमकिन हो कि वे अपनी उत्पादन व्यवस्था को बढ़ा सकें। लेकिन इसको हासिल करने के लिए हमें किस तरह का वर्ग-संघर्ष चलाना होगा? क्या हमारे लिए यह उचित होगा कि हम झूठ और छल के रास्ते पर चलें? जाहिर है कि यह उचित नहीं होगा। यहाँ मैं अपने विचार के पक्ष में कोई नैतिक तर्क नहीं दूँगा। मेरा तर्क एक विशिष्ट आर्थिक तर्क है कि इन सारे तरीकों को अपनाने के बाद भी असफलता ही मिलेगी। यह एक साफ तौर पर इहलोकवादी, अनैतिक तर्क है, जिसे कुछ लोग सर्वथा क्रूर तर्क भी कह सकते हैं कि मेरा इरादा झूठ बोलने का नहीं है, क्योंकि इससे मुझे कामयाबी नहीं मिल सकती, इसका कोई नतीजा नहीं निकल सकता। मेरा इरादा हत्या या कत्ल करने का नहीं है, क्योंकि वैसा करके भी अंत में मुझे नयी अर्थ-व्यवस्था हासिल करने में कामयाबी नहीं मिल सकती। यह मेरा पहला तर्क है, लेकिन अकेला यही तर्क नहीं है। मैं इतना क्रूर नहीं हूँ।

साम्यवादियों से यह कहना बेकार है कि वे झूठ न बोलें। उनसे यह कहना व्यर्थ है कि वे छल का रास्ता न अपनायें। वे अपने को ऐसे सदाचरण का उपदेश देने वालों से ज्यादा ऊँचा मानते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने को पहले ही एक ऐसे आदर्श को समर्पित कर दिया है जिसे वे एक ऊँचा और महान आदर्श मानते हैं।

धार्मिक क्षेत्र में हमें ऐसी ही चीज देखने को मिलती है, जहाँ मनुष्य अपने पूज्य या उपास्य देवता या ईश्वर की सेवा में वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता है जो गंदा और बुरा है। क्या कृष्ण ने, जो भगवान के अवतार थे, झूठ, छल और हत्या के तमाम बुरे काम नहीं किए और भारतीय लोग क्या उन्हें अपनी सभ्यता का सबसे बड़ा प्रेमी और विचारक नहीं मानते आये हैं,

क्योंकि उन्होंने सब कुछ सत्य और प्रेम की निःस्वार्थ सेवा में किया? साम्यवादी यह विश्वास करते हैं कि वे सत्य की सेवा में झूठ बोलते हैं, स्वास्थ्य के हित में हत्या करते हैं, विश्वक्रान्ति के लिए लोकतंत्र का नाश करते हैं और दुनिया के मजदूरों की एकता हासिल करने के लिए राष्ट्रों की स्वाधीनता का बलिदान करते हैं। हमारे शब्दों में, वे अपने महान और ऊँचे आदर्श के लिए गन्दे और छल भरे आचरण के अथाह गर्त में गिरते हैं, लेकिन वे स्वयं अपने आचरण को इस रूप में नहीं देखते। वे सोचते हैं कि उनके तरीके, उठ कर उस जगह पहुँचने के लिए जरूरी हैं जिसे किसी दिन लोग आध्यात्मिक उच्चता और महानता कहेंगे और इसलिए किसी साम्यवादी के साथ नैतिकता या सदाचार की कोई बहस चलाना बिलकुल बेमतलब है। अगर किसी साम्यवादी को यह समझाया जा सके कि उसके छल भरे व्यवहार का फल कुछ भी नहीं निकलने वाला, तो संभव है कि उसकी बुद्धि ठीक हो और ये महत्वपूर्ण आर्थिक तर्क पहले ही प्रस्तुत किये जा चुके हैं कि अगर हिन्दुस्तानी लोग कभी मार्क्सवादी रास्ते पर चले तो वर्तमान आर्थिक आधारों के कारण खेती और कारखानों की मौजूदा हालत के अन्त में असफलता ही मिलने वाली है।

अतीत में अक्सर साम्यवादियों ने मुझे अमरीकी एजेन्ट आदि कह कर और आरोप लगा कर कि मैंने अमरीकी डालर लिए, मेरी निंदा की है। एक-दो बार खीझ कर मैंने उनके आरोपों का जवाब दिया और उलटा और सच्चा आरोप लगाया कि वे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीकों से रूस और चीन से पैसा लेते हैं। लेकिन जब मेरा मन शांत रहता है तो मैं इस बात को समझा हूँ कि विश्व क्रांति के हित में साम्यवादी इस तरह के झूठ बोलना जरूरी पाते हैं। अगर वे समझते हैं कि इस तरह झूठ बोलकर वे समाजवादी दल के आधार को खत्म कर सकते हैं, तो अपनी समझ में वे बहुत बड़ा और अच्छा काम करते हैं और बात यहीं खत्म हो जाती है। इसी तरह सिलसिला चलता जाता है। इसलिए साम्यवादियों के हर झूठ का जवाब देने की कोशिश करना बेकार है, क्योंकि वे तत्काल कोई और झूठ बोलने लगेंगे और इस सिलसिले का कोई अन्त नहीं होगा। यह झूठ क्रांति को आगे बढ़ाने की उनकी पद्धति का, समाज के महान लक्ष्य की प्राप्ति की उनकी चेष्टाओं का एक अंग है।

पूँजीवादी विकास का जो विश्लेषण यहाँ किया गया है, उसके अनुरूप वर्ग-संघर्ष ऐसा ही हो सकता है जिसमें तात्कालिक साक्षात्कार का सिद्धान्त शामिल हो और उसका औचित्य प्रमाणित हो। उस वर्ग संघर्ष का एक-एक कार्य अपने आप में उचित हो। हमें झूठ के द्वारा सत्य की, हत्या के द्वारा स्वास्थ्य की साधना नहीं करनी। हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान के बाहर समाजवादी सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष के एक ऐसे सिद्धान्त को निरन्तर और उग्र रूप में चलाये, जिसका हर काम अपने आप में उचित हो तो ऐसा वर्ग-संघर्ष मनुष्यों के मन को आकर्षित कर सकेगा। इस समय दो प्रकार के वर्ग-संघर्ष हैं। एक प्रकार का वर्ग संघर्ष साम्यवादी है, जो मार्क्सवादी परम्परा का और एक हद तक उसे विकृत करने वाला है। समाजवादी वर्ग संघर्ष में क्रांतिकारी कार्यकलाप की उग्रता किसी भी तरह कम नहीं होनी चाहिए। उसे उग्र होना चाहिए। अगर अहिंसा का कभी यह मतलब निकला कि संघर्ष को छोड़ दिया जाए, या ढीला-ढाला कर दिया जाए, तो वह केवल क्रूर हिंसा का आवरण बन जाएगी। यही कठिनाई है। जो लोग तात्कालिक साक्षात्कार के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, वे आम तौर पर नरम, समझौतापरस्त और मेलजोल बिठाने वाले भी होते हैं। हिन्दुस्तान में जरूरत अब उस किस्म के आदमी की है जो तेज और उग्र हो, जो मुमकिन है पूँजीशाही, सामंतशाही और मौजूदा सरकारों से लड़ते हुए कभी गलतियाँ कर जाए, जिसे उसकी बहुत ज्यादा फिक्र न हो कि उसे क्या कुछ सहना पड़ता है, लेकिन जो इस बात का ध्यान रखे कि उसके वर्ग-संघर्ष का एक-एक काम अपने-आप में उचित हो। हड़ताल, सिविल नाफरमानी, कानून तोड़ना या बहुत बड़ी संख्या में लोगों का जमीनों पर कब्जा कर लेना, ये सब काम इस तरह से किये जाएँ कि उनमें झूठ बोलना या हत्या करना शामिल न हो।

वर्ग संघर्ष का यह नया रूप पूँजीवादी विकास के सही सिद्धान्त के अनुरूप होगा। पुराने ढंग के वर्ग-संघर्ष को छोड़ देना होगा, क्योंकि उसकी उत्पत्ति एक गलत सिद्धान्त से हुई थी। समाज के सामान्य लक्ष्यों और आर्थिक लक्ष्यों को हमेशा अलग-अलग ध्यान में रखना होगा। इसमें शक नहीं कि समाज के आर्थिक और सामान्य लक्ष्यों में समरसता लानी होगी। एक को दूसरे के ऊपर लाद देना विनाशकारी होगा। उनमें काट-छाँट करनी होगी और मेल बिठाने के लिए बदलाव भी करना होगा। कुछ नासमझ समाजवादी और गाँधीवादी शायद

ऐसा सोचते हैं कि साम्यवाद और गाँधीवाद या समाजवाद में फर्क सिर्फ इतना ही है कि अहिंसा और लोकतंत्र चलते हैं या नहीं। इस तरह साम्यवाद और गाँधीवाद या लोकतंत्र में फर्क इतना कम रह जाता है कि साम्यवाद या मार्क्सवाद के सम्पूर्ण विस्तृत सिद्धान्त में हम किसी तरह से अहिंसा के गांधीवादी सिद्धान्त को और लोकतंत्र के उदारवादी सिद्धान्त को शामिल कर सकते हैं और पूँजीवादी विकास, वर्ग संघर्ष, विश्व क्रांति और नयी सभ्यता के इस सिद्धान्त पर किसी तरह गाँधीवाद के अहिंसात्मक आचरण या पश्चिमी यूरोप के लोकतांत्रिक आचरण को लाद दे सकते हैं। यहाँ जो मूल सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है कि साम्राज्यवाद-पूँजीवाद का एक साथ विकास हुआ है कि पूँजी का केन्द्रीकरण तो साम्राज्यवादी देशों में हुआ, लेकिन गरीबी, संकट और संघर्ष उपनिवेशों या पिछड़े इलाकों में हुए कि उत्पादन की शक्तियों का फैलाव तो यूरोप अमरीका में हुआ, लेकिन पैदावार के नये रिश्तों के लिए उभार एशिया अफ्रीका में आया, इसे अगर नजर में रहे तो जाहिर हो जाता है कि यह बात कितनी बेमतलब और सर्वथा हास्यास्पद है। मार्क्सवादी या साम्यवादी आर्थिक सिद्धान्त पर अहिंसा के सिद्धान्त को, या लोकतंत्र के भी सिद्धान्त को लादना तो मूर्खता से भी बढ़कर मारक काम होगा। भारतीय समाजवाद में अरसे से यह रोग रहा है कि वह लोकतांत्रिक या गांधीवादी सिद्धान्त की किसी एक चीज को साम्यवादी या मार्क्सवादी सिद्धान्त किसी दूसरी चीज से जोड़ने की कोशिश करता रहा है। ऐसे बेकार के प्रयत्नों में समाजवाद को अब बिलकुल नहीं पड़ना चाहिए जिसमें दिमाग मार्क्सवाद के एक सूत और गांधीवाद के दूसरे सूत को लेकर एक कुरूप और बेकार रस्सी बटने की कोशिश करता है।

एक आदर्श पर दूसरे आदर्श को लादने की ऐसी कोशिशें मनुष्यों ने पहले भी की है और उनके नतीजे हमेशा खराब निकले हैं। दोनों को इस तरह से गूँथना होगा कि उनमें समरसता हो, ताकि आर्थिक व्यवस्था में सामान्य लक्ष्य प्राप्त हो सकें और समाज के सामान्य लक्ष्यों का रूप ऐसा हो कि उससे आर्थिक व्यवस्था को बल मिले। एक और खतरे को समझ लेना चाहिए। समाजवादी और साम्यवादी ही नहीं, लोकतंत्रवादी और गाँधीवादी भी ऐसा सोचते हैं कि वे जीवन के निजी मूल्यों, सांस्कृतिक गुणों, सदाचरण को किसी भी प्रकार की अर्थ व्यवस्था में चला सकते हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि विशाल कारखानों वाली पूँजीवादी व्यवस्था भी चलती रह सकती है, और उसके साथ ही लोकतंत्र, सदाचरण और नैतिक मूल्य भी रह सकते हैं जिन्हें वे अब सांस्कृतिक मूल्य कहते हैं। यह बिलकुल गलत है। ऐसे दृष्टिकोण का फल यह होगा कि महात्मा गाँधी केवल शोभा और औपचारिक चर्चा की चीज रह जाएँगे। एक बार हम किसी आर्थिक व्यस्था को उसके आधारों और उद्देश्यों सहित स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर यह सोचना व्यर्थ है कि उस पर ऐसे मूल्य लादे जा सकते हैं जो उन आधारों और उद्देश्यों के विपरीत हों। किसी नैतिक उपदेशक का प्रभाव चाहे जितना ज्यादा हो, यह काम हो ही नहीं सकता। हजारों, लाखों पूँजीपतियों को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी बनाया ही नहीं जा सकता।

पूँजीवादी विकास के एक अन्य नियम की ओर संकेत किया जा सकता है। इंगलिस्तान में गरीबी नहीं बढ़ी, बल्कि हिन्दुस्तान में बढ़ी, जबकि इंगलिस्तान में धन और सम्पन्नता बढ़ी। गरीबी और गैर बराबरी साथ-साथ चलते हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार अमीरी और गरीबी साथ-साथ होनी चाहिए। एक ही इलाके या देश में विशाल सम्पन्नता और भयंकर गरीबी, दोनों साथ-साथ होनी चाहिए। लेकिन पूँजीवादी विकास की जो रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत की गयी है, उसकी नजर में यह आसानी से समझा जा सकता है कि पूँजीवादी सभ्यता में जो देश जितना अधिक धनी होगा, गैरबराबरी की संभावना वहाँ उतनी ही कम होगी। जो देश जितना अधिक गरीब होगा, वहाँ गैर-बराबरी की गुंजाइश उतनी ही ज्यादा होगी। गरीब देश में कुछ थोड़े से अमीर या शक्तिशाली लोग होते हैं जो राष्ट्रीय पुनः निर्माण के ऊँचे आदर्श के नाम पर आधुनिकीकरण की सुविधाएँ हथिया लेने में कुशल होते हैं। अमरीका या इंगलिस्तान जैसे देशों की तुलना में हिन्दुस्तान या अन्य ऐसे देशों में गैरबराबरी कहीं अधिक है। ऐसी विषमताओं से व्यक्ति और समाज की अन्तरात्मा मर जाती है। क्षमता से अधिक बोझ पड़ने पर फिर दिमाग काम नहीं करता। गरीबी और पीड़ा को निरन्तर देखते रहने पर और ऐसी पीड़ा के कारण जो देखी नहीं जा सकती, दिमाग अपने ऊपर एक कवच सा डाल लेता है, ताकि वह देख न सके, कुछ ऐसे ही जैसे सीप में रेत का कण पड़ जाने पर वह अपने चारों तरफ एक कवच बना लेती है। तब वह पीड़ा के और मन या अन्तरात्मा की जड़ता के बीच एक क्रिया-प्रतिक्रिया चलने लगती है। ये एक दूसरे के

सहारे बढ़ती है। यह एक कारण है जिसके फलस्वरूप एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के देशों में क्रांति में अमूर्त्त लफ्फाजी ज्यादा होती है, ठोस असलियत कम, क्योंकि लफ्फाजी में एक उम्मीद बनी रहती है, जबकि असलियत तो मनुष्य को पागल कर देने वाली होती है।

मार्क्सवाद उस पुराने धार्मिक चिंतन की परंपरा की ही एक कड़ी है, जो निजी सम्पत्ति के प्रति भय या अरुचि पैदा करती है। लेकिन एक बुनियादी फर्क है। ऐसा पुराना धार्मिक चिंतन व्यक्ति के मन पर प्रभाव डालता है और उसमें निजी सम्पत्ति के प्रति अरुचि या तिरस्कार पैदा करता है, जबकि नया मार्क्सवादी चिंतन निजी सम्पत्ति को खतम करके ऐसे समाज की रचना करना चाहता है जिसमें किसी के भी पास ऐसा धन न हो कि वह किसी दूसरे को नौकर रखे। धार्मिक चिंतन खास तौर पर जैसा ईशोपनिषद में है, निजी सम्पत्ति को निजी स्तर पर समाप्त करता है। मार्क्सवाद उसे एक व्यवस्था के रूप में खतम करता है। जब तक निजी सम्पत्ति एक असलियत के रूप में मौजूद है, तब तक धार्मिक चिन्तन के भावनात्मक परिणाम चाहे जो भी हों, उसका सामाजिक परिणाम केवल सुधार या संशोधन का हो सकता है और वह भी बहुत मामूली। जब तक सम्पत्ति का निजी मोह बना रहता है, तब तक मार्क्सवाद या ऐसे किसी अन्य सामाजिक सिद्धान्त का खुद अपने ही अमली नतीजों से संघर्ष चलता रहेगा। निजी सम्पत्ति मोटे तौर पर खतम की जा सकती है, लेकिन असमान सुविधाओं या दिखावे की इच्छा बराबर समाज-व्यवस्था को अन्दर से क्षय करती रहेगी। मार्क्सवादी सिद्धान्त के जिन समाजशास्त्रीय और अर्थ-शास्त्रीय दोषों की चर्चा पहले की जा चुकी है, उनको छोड़कर, व्यवस्था के रूप में निजी सम्पत्ति को समाप्त करने की उसकी महान उपलब्धि को स्वीकार करना चाहिए और यह उम्मीद रखनी चाहिए कि उससे भी बेहतर एक सिद्धान्त फैलेगा जो व्यवस्था के रूप में निजी सम्पत्ति को खतम करने के साथ-साथ व्यक्ति के मन में उसके मोह को भी मिटाएगा और व्यक्ति तथा व्यवस्था दोनों को एक साथ सुधारेगा।*

* यह लेख डॉ. लोहिया ने अगस्त, 1952 में हैदराबाद में दिया हुआ एक भाषण है जिसको लोहिया की अंग्रेजी किताब 'मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज्म' में शामिल किया गया है। इस भाषण का हिंदी अनुवाद पहली बार 'जन' मासिक के जून, 1970 के अंक में प्रकाशित हुआ।

न्यायपालिका के इतिहास का एक दुखद क्षण

शांतिभूषण

9 नवंबर को, जस्टिस चेलामेश्वर की पीठ ने एक बेहद महत्वपूर्ण याचिका पर सुनवाई की। इस याचिका में भ्रष्टाचार के एक ऐसे कथित आचरण, जिसमें उच्च न्यायपालिका के सदस्य शामिल हो सकते हैं, की स्वतंत्र जांच कराने की मांग की गई थी।

चूंकि यह मामला न्यायपालिका की ईमानदारी और साख से संबंधित है, इसलिए जस्टिस जे। चेलामेश्वर की पीठ ने प्रतिवादी को नोटिस भेजा और केंद्रीय जांच ब्यूरो (सीबीआई) को केस डायरी समेत जांच से संबंधित सभी महत्वपूर्ण दस्तावेज़ों को बंद लिफाफे में सुप्रीम कोर्ट के सामने पेश करने का निर्देश किया।

पीठ ने (मुख्य न्यायाधीश समेत) कोर्ट के पांच वरिष्ठतम जजों की संवैधानिक पीठ के सामने इस मामले की आगे की सुनवाई के लिए 13 नवंबर की तारीख मुक़र्रर की है।

यह जांच उड़ीसा हाईकोर्ट के पूर्व न्यायाधीश जस्टिस (रिटायर्ड) आईएम कुदुसी और ओडिशा के कुछ अन्य बिचौलियों, जिनमें एक नाम बिस्वनाथ अग्रवाल का है, के खिलाफ़ सीबीआई द्वारा किए गए एक एफआईआर से संबंधित है।

आरोप यह लगाया गया है कि अग्रवाल ने कानपुर के एक मेडिकल कॉलेज के प्रोपराइटरों से सुप्रीम कोर्ट से उनके हक में फैसला दिलवाने के नाम पर काफी पैसा लिया था। ये पैसा कथित तौर पर कुछ जजों को दिया जाना था।

इससे जुड़ा तथ्य यह है कि यह मामला उस समय जिस पीठ के सामने था, उसकी अध्यक्षता चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा कर रहे थे। सीबीआई द्वारा किए गए एफआईआर के एक संबंधित अनुच्छेद में कहा गया हैः

'सूचनाओं से यह भी पता चलता है कि प्रसाद एजुकेशनल ट्रस्ट ने सर्वोच्च न्यायालय में एक रिट याचिका

(सिविल) सं। 797/2017 दायर की थी। श्री बीपी यादव ने इस साज़िश को आगे बढ़ाते हुए श्री आईएम कुद्दुसी और श्रीमती भावना पांडेय से आग्रह किया, जिन्होंने अपने संपर्कों की बदौलत सुप्रीम कोर्ट में इस मामले को रफा-दफा कराने का आश्वासन दिया। उन्होंने एक प्राइवेट व्यक्ति- विश्वनाथ अग्रवाल, निवासी, एचआईजी-136, फेस 1, कानन विहार, चंद्रशेखरपुर, भुवनेश्वर, ओडिशा को सुप्रीम कोर्ट में इस मामले का फैसला उनके अनुकूल तरीके से करवाने का ज़िम्मा सौंपा। श्री विश्वनाथ का दावा था कि इस मामले से जुड़े महत्वपूर्ण सार्वजनिक पदों पर बैठे लोगों से उनका नज़दीकी रिश्ता है। उन्होंने यह भरोसा दिलाया कि वह इस मामले का फैसला उनके मन-मुताबिक तरीके से करवा देंगे। लेकिन, लोकसेवकों को भ्रष्ट और ग़ैरक़ानूनी तरीके से लालच देकर यह काम कराने के बदले में उन्होंने काफी पैसे की मांग की।'

इस याचिका में सुप्रीम कोर्ट से इस बेहद संवेदनशील मसले की जांच के लिए एक विशेष जांच दल (एसआईटी) के गठन की मांग की गई थी। इस याचिका में सीबीआई जांच की मांग नहीं की गई थी, क्योंकि मौजूदा हालात में जब सीबीआई केंद्र सरकार के हाथों का खिलौना बनी हुई है, सरकार इस सूचना का इस्तेमाल अपने फायदे के लिए कर सकती है।

इससे पहले भी ऐसे कई मौके रहे हैं, जब आम लोगों में विश्वास बहाल करने के लिए संवेदनशील मसलों की सुनवाई पांच सर्वाधिक वरिष्ठ जजों द्वारा की गई है। ऐसे दो मामलों में से एक- इंदिरा गांधी की चुनाव अपील का था और दूसरा- आपातकाल के दौरान बंदी प्रत्यक्षीकरण (हेबीअस कॉर्पस) केस था, जिसमें जस्टिस एचआर खन्ना विरोध करने वाले एकमात्र जज थे, जिसके चलते मुख्य न्यायाधीश की कुर्सी उनसे छिन गई थी।

भारत के पूर्व महान्यायवादी (अटॉर्नी जनरल) सीके दफ्तरी की सलाह पर तब के मुख्य न्यायाधीश एएन राय बंदी प्रत्यक्षीकरण के मामले को मुख्य न्यायाधीश द्वारा चुन लिए गए किन्हीं भी पांच जजों की पीठ के हवाले करने की जगह पांच वरिष्ठतम जजों की पीठ को सौंपने को तैयार हुए थे।

शुक्रवार, 10 नवंबर को, मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा ने एक सात जजों की पीठ (जो कि सुनवाई शुरू होने से पहले 5 सदस्यीय पीठ में बदल दी गई थी) गठित की, जिसकी अध्यक्षता उन्होंने खुद की।

इस पीठ ने जस्टिस चेलामेश्वर द्वारा दिए गए काफी उचित आदेश को इस आधार पर रद्द कर दिया कि पीठों का गठन करने का आधिकार सिर्फ और सिर्फ सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश को दिया गया है।

यहां यह याद दिलाना उचित होगा कि मुख्य न्यायाधीश के अलावा पांच वरिष्ठतम जजों में से किसी को भी जल्दबाजी में गठित की गई इस संवैधानिक पीठ का हिस्सा बनने के लिए नहीं चुना गया। जो बात सबसे ज़्यादा ध्यान खींचती है वह यह कि मुख्य न्यायाधीश को अपने बाद के चार वरिष्ठतम जजों में से किसी पर शायद विश्वास नहीं है।

अनुच्छेद 142 के तहत सुप्रीम कोर्ट के एक जज की शक्तियां मुख्य न्यायाधीश यह भूल रहे हैं कि संविधान अनुच्छेद 142 के तहत सुप्रीम कोर्ट के जजों को बेहद विशिष्ट शक्ति प्रदान करता है। किसी भी कोर्ट को, यहां तक कि हाईकोर्ट को भी यह अधिकार नहीं दिया गया है।

यह अनुच्छेद सुप्रीम कोर्ट के जजों को किसी भी कानून के किसी भी प्रावधान को दरकिनार करने का अधिकार देता है, अगर उसे लगता है कि उसके सामने आए केस में पूर्ण न्याय करने के लिए ऐसा करना ज़रूरी है।

सुप्रीम कोर्ट के दो ऐतिहासिक फैसले इस विशेष आधिकार की ओर इशारा करते हैं और इसकी व्याख्या करते हैं। एक फैसला एआर अंतुले से जुड़े एक मामले में सात जजों की पीठ वाला है और दूसरा- यूनियन कार्बाइड में 5 जजों की पीठ वाला है।

यह स्पष्ट तौर पर कहा गया था कि अनुच्छेद 142 का दायरा काफी विस्तृत है। यह भी कहा गया कि किसी भी मामले में वास्तविक न्याय करने के लिए कोई भी क़ानून, जिनमें संसद द्वारा बनाए गए क़ानून भी शामिल हैं, को दरकिनार किया जा सकता है। इस शक्ति पर सिर्फ एक बंदिश थी, और वह यह कि संविधान के प्रावधानों की अनदेखी नहीं की जा सकती।

दूसरी बात, संविधान में ऐसा कहीं नहीं लिखा गया है कि सिर्फ मुख्य न्यायाधीश ही पीठों का गठन कर सकता है। हद से हद इस अधिकार को एक नियम या परंपरा में खोजा जा सकता है। लेकिन, अनुच्छेद 142 के मद्देनज़र सुप्रीम कोर्ट इन दोनों से भी बंधा हुआ नहीं है।

इसलिए जस्टिस चेलामेश्वर की पीठ के आदेश को रद्द नहीं किया जा सकता था। वास्तव में, 10 नवंबर का आदेश पूरी तरह से न्याय के अधिकार क्षेत्र से परे और अमान्य है। यह रूपा हुर्रा मामले में संविधान पीठ के फैसले से स्पष्ट होता है, जिसमें यह साफ तौर पर कहा गया था कि सुप्रीम

कोर्ट की किसी पीठ के किसी भी फैसले को सुप्रीम कोर्ट के किसी अन्य पीठ द्वारा खारिज नहीं किया जा सकता, भले ही ऐसा किसी बड़ी पीठ द्वारा ही क्यों न किया जाए।

किसी फैसले को उसी पीठ द्वारा पुनर्विचार करके या एक दोषहारी याचिका (क्यूरेटिव पिटीशन) के द्वारा, जिस पर सुनवाई तीन वरिष्ठतम जजों के साथ उन्हीं जजों के द्वारा की जा सकती है, ही खारिज किया जा सकता है।

चूंकि अनुच्छेद 144 यह व्यवस्था करता है कि सिविल और न्यायिक प्राधिकारियों को कोर्ट के सहायक के तौर पर कार्य करना होगा- इसका अर्थ यह है कि दूसरी पीठों को भी किसी पीठ के फैसलों को लागू करना है- इसलिए 10 नवंबर को मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता वाली पीठ भी चेलामेश्वर पीठ के फैसले के खलिाफ़ आचरण नहीं कर सकती थी।

चूंकि, यह ज़रूरत संविधान के प्रावधान के तहत लगाई गई है, इसलिए अनुच्छेद 142 का इस्तेमाल इसे प्रभावहीन बनाने के औज़ार के तौर पर नहीं किया जा सकता है।

इसलिए मुख्य न्यायाधीश की पीठ द्वारा दिया गया आदेश पूरी तरह से उसके अधिकार क्षेत्र के परे और अमान्य है।

हितों का टकराव

यहां इस ओर भी ध्यान दिलाना ज़रूरी है मुख्य न्यायाधीश हितों का टकराव होने के कारण इस मामले में कोई फैसला नहीं ले सकते हैं, क्योंकि जांच में उनकी संलिप्तता की ओर भी उंगली उठ सकती है।

एफआईआर में वर्णित तथ्यों में, हालांकि मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा के नाम का स्पष्ट तौर पर उल्लेख नहीं किया गया है, लेकिन यह ज़रूर ध्यान में रखा जाना चाहिए कि जब यह साज़िश रची जा रही थी, तब मामला उनकी पीठ के सामने विचाराधीन था।

साथ ही यह भी याद रखा जाना चाहिए कि बिचौलिया बिस्वनाथ अग्रवाल ओडिशा से है और सह-अभियुक्त आईएम कुदुसी भी उड़ीसा हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज थे, और दीपक मिश्रा का गृह राज्य भी ओडिशा है।

यह शक़ की सुई को वर्तमान मुख्य न्यायाधीश की ओर घुमाने का काम करता है। इन परिस्थितियों में हितों के टकराव के क़ानून के तहत मुनासिब यही था कि मुख्य न्यायाधीश इस रिट याचिका को हाथ न लगाएं। उन्हें इस रिट के मामले में न्यायिक ही नहीं, प्रशासनिक कार्यों से भी खुद़ को अलग कर लेना चाहिए था।

हमें यह ज़रूर से ध्यान रखना चाहिए कि पिनोशेट मामले में हाउस ऑफ लॉर्ड्स को भी अपना एक फैसला वापस लेना पड़ा था, क्योंकि एक लॉर्ड की पत्नी का इस केस के एक पक्ष से कोई दूर का रिश्ता था।

अब आगे का रास्ता क्या है? अगर भारत के सुप्रीम कोर्ट को बचाना है, तो मेरी राय में एक सभी जजों वाली पीठ को स्थिति का आकलन करना चाहिए और इस मामले में क़ानूनी पक्ष पर पूर्वाग्रह से मुक्त होकर बुद्धिमानी के साथ विचार करना होगा। *(वायर से साभार)*

21 सितम्बर 2017, बनारस और हिंदुस्तान की औरत

डॉ स्वाति

दशहरे के अवकाश के कुछ ही दिन पहले, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एक छात्रा के साथ एक युवक ने अश्लील हरकतें की। शाम 6 बजे की घटना थी, और उसने पास ही खड़े विश्वविद्यालय के एक सुरक्षाकर्मी को शिकायत की। नतीजा कुछ नहीं होते देख कर उसने अपनी संरक्षिका (वार्डेन) से जब कहा तो उस महिला ने पूछा की तुम इतनी देर तक बाहर थी ही क्यों ?

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस ही नहीं, उत्तर प्रदेश ही नहीं, पूरे देश में स्त्री पर हमले होने के बाद उसी को अपराधी बनाने की हर संभव कोशिश भारतीय समाज करता हैं।

छेड़खानी हो या अश्लील हरकत, ये तो इस इस परिसर की लगभग रोज़ाना की घटनाएं हैं। 1979 से वर्तमान तक यह मेरा जिया हुआ यथार्थ हैं। इस बार मगर छात्राओं का धैर्य जवाब दे गया, और वे 22 सितम्बर की सुबह से विश्व विद्यालय के सिंहद्वार पर धरने पर बैठ गयीं।

प्रधानमंत्री शहर में थे, और वे उस धरना -स्थल से बिलकुल निकट से निकल गए, मगर शांतिपूर्ण, लोकतान्त्रिक ढंग से आंदोलन करने वाली लड़कियों से मिलने का 'मन' नहीं बना पाए, और चुपके से चले गए। कुलपति प्रो त्रिपाठी का स्त्री-विरोधी चरित्र तो तभी ज़ाहिर हो गया जब उन्होंने कहा कि अगर युवक ने छेड़ भी दिया हो तो

मर्यादा को तोड़ कर लड़कियां सड़क पर क्यों बैठी हैं ? वे 40 घंटे तक चले सत्याग्रह के बावजूद लड़कियों से मिलने तो नहीं ही आये, 23 सितम्बर को देर रात अपने सुरक्षा सैनिकों को लाठी चार्ज का आदेश दे दिये । इस सामंती तंत्र में बिना विश्वविद्यालय के मुखिया के आदेश के यह हो ही नहीं सकता था। पीड़ित छात्राओं से छात्रावास खाली कर घर जाने को कहा गया। अश्लील हरकत के जिम्मेदार लड़के को दंड नहीं दिया गया, न ही आये दिन ऐसी घटनाओ के दोषी छात्रों पर कोई कार्रवाई हुई है, इतनी बडी घटना घट जाने और अंदोलन के बावजूद।

महिला आयोग, भारत व जिलाधिकारी, वाराणसी दोनों की जांच ने कुलपति को छात्राओं पर हुए बर्बर लाठी चार्ज का दोषी पाया हैं, और उन्हें लम्बी छुट्टी पर भेज दिया गया हैं। नयी सुरक्षाधिकारी एक महिला हैं जो छिपे कैमरे लगाने और सुरक्षा वाहनों की संख्या बढ़ाने की घोषणा करके खुश हैं। छात्राओं को अभी भी उनके वाहनों से धक्का दे कर गिराने की कोशिशें, छींटाकशी इत्यादि बदस्तूर जारी हैं। छात्राओं के छात्रावास लौटने का समय बंधा हुआ है, छात्रों का नहीं। छात्राओं के लिए एक तरह का अघोषित कर्फ्यू हैं यह।

मुझे यह लगता हैं कि हमारे उत्तर प्रदेश व कई राज्यों के मर्द अभी भी औरतों के सड़कों पर मुक्त विचरण मात्र से असहज हो जाते हैं। अपने परिवार की महिला सदस्यों को बिना पुरुष रिश्तेदार के निकलने से तो मना करते ही हैं, इस बात से नाराज़ और परेशां रहते हैं की कोई औरत या लड़की आज़ाद भारत की आज़ाद नागरिक की तरह सड़क पर अकेले या समूह में दिख ही क्यों रही हैं ? और अगर दिख रही हैं तो वो खुद को आखेट की वस्तु माने। यह 1980 में मुझे कंझावला के एक जाट किसान ने कहा था, कि अगर लड़कियां दिल्ली की बसों में चढ़ेगी, तो उनको छेड़खानी की समस्या से तो गुज़ारना ही होगा।

2012 के 16 दिसंबर को निर्भया को दिल्ली की बस में अमानवीयता की हदें लाँघ कर की गयी दरिंदगी का शिकार होना पड़ा। उस लड़की के माँ-पिता उसको स्वतंत्र ढंग से पढ़ने देना चाहते थे, जीने देना चाहते थे। चालक व उसके सहायकों ने बस को रोक कर, उसको व साथी लड़के को बस में चढ़ा कर, उनके साथ सुनियोजित ढंग से अत्याचार किया, निर्भया का बलात्कार हुआ। उस घटना के बाद जो लगातार धरने, प्रदर्शन हुए उस से -कहीं कहीं शहरी लड़कियों में उम्मीद जगी होगी कि समाज में पुरुष का मानस बदला हैं। मगर वो मौसमी प्रभाव था। आज फिर राजधानी में डेढ़ साल की बच्ची के साथ बलात्कार की घटना की खबर आयी हैं, और आये दिन सड़क से अगवा कर गाड़ी में, या निर्जन में बलात्कार की घटनाएं हो रही हैं।

हर पुरुष बलात्कारी नहीं होता हैं, यह उतना ही स्पष्ट हैं, जितना की अश्लील हरकत और बलात्कार एक चीज़ नहीं हैं,वो अलग किस्म के अपराध हैं, और कानून में इनके लिए अलग धारा हैं, और अलग दंड हैं।

मगर कोई भी भारतीय लड़की या औरत सड़क पर चलती हैं तो अपने आप को एक छोटे से आयतन में सीमित करते हुए चलती हैं ताकि उसके साथ कुछ अश्लील हरकत न हो ; वे जानती हैं कि इसके होने की सम्भावना नगण्य नहीं हैं। छींटाकशी से बलात्कार, यह सारे कर्म स्त्री के स्वत्व को आघात पहुँचाने के लिए, उसे तोड़ने के लिए है। उसका वजूद ख़त्म करने के लिए है । यह किसी नैसर्गिक आकर्षण का परिणाम तो बिलकुल भी नहीं हैं।

वर्तमान भारतीय समाज में लड़कियाँ हर काम में लड़कों को स्पर्धा देती हैं, चुनौती खड़ी करती हैं।

रोज़गार में रिक्तियां बंट जाती हैं। शिक्षित औरतें अपने विचारों को विश्वास से व्यक्त करती हैं। इन बातों से ज़्यादातर पुरुषों के मन में कुंठा और हीनत की भावना उपजती हैं, और वो समाजिक जीवन में, शैक्षणिक जगहों पर, ट्रेन में, बसों में, हर जगह अपनी असहजता को स्त्री पर आरोपित करना चाहते हैं, और सफल भी होते हैं।

क्योंकि लड़कियों के माता पिता उनमें आत्मविश्वास भरने की बजाय उन्हें डराते हैं कि स्वछन्द न हो बेटियां, स्वतंत्र न हो। अगर बामुश्किल-तमाम, युवतियाँ अपने स्वभाव से, या किसी शिक्षक या रिश्तेदार महिला की प्रेरणा से आत्मविश्वासी व स्वछंद हो जाती हैं, तो उन्हें कदम-कदम पर सवालिया निगाहों का सामना करना पड़ता हैं, मानों वो किसी अन्य ग्रह से आयी हों। हार-थक कर या तो अपने को अदृश्य व अश्रव्य बना लेती हैं, जैसे की उनसे अपेक्षित होता हैं एक 'अच्छी लड़की/औरत' बनने के लिए चुप हो जाती हैं। या फिर आज की विद्रोही लड़कियों, काशी हिंदू विश्वविद्यालय छात्राओं की तरह संघर्ष करती हैं और अन्याय के खिलाफ प्रतिकार चाहती हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय की लड़कियां छात्रावासों के विषम नियमों के खिलाफ एक सफल 'पिंजरा तोड़ ' आंदोलन चला रही हैं।

बदलाव की बयार बहनी शुरू हुयी है, एक चिंगारी से लौ जली हैं। आईये उसे संजोने का काम हम सब करें।

नारी एकता व समाजवादी जनपरिषद

डेरा सच्चा सौदा के मुखिया गुरमीत राम रहीम सिंह

एल.एस. हरदेनिया

डेरा सच्चा सौदा के मुखिया गुरमीत राम रहीम सिंह के विरूद्ध बलात्कार का आरोप सही सिद्ध होने के बाद और हाईकोर्ट द्वारा उसे अपराधी मानने के बाद हरियाणा में और हरियाणा के आसपास के अनेक शहरों में जो घटनाक्रम हुआ है उससे दो प्रमुख विचारणाीय मुद्दे उभर कर आए हैं। पहला, हमारे देश में राम रहीम सिंह के अलावा भी अनेक इस तरह के व्यक्ति सामने आए हैं जो स्वयं को ईश्वर का अवतार मानते हैं। उनका प्रभाव इतना गहरा होता है कि लाखों लोग उनके कहने पर अपनी जान देने को तैयार हो जाते हैं। ऐसा क्यों हो जाता है यह पता लगाने के लिए एक दीर्घकालीन अनुसंधान की आवश्यकता है। क्या इनमें कोई सम्मोहन करने की शक्ति होती है, जिससे वे अपने अनुयायियों के मन और तन पर पूरा नियंत्रण हासिल कर लेते हैं। उनके अनुयायी अंधभक्त हो जाते हैं और वे उन्हें वास्तव में ईश्वर मानने लगते हैं। वे उन पर किसी भी प्रकार का अत्याचार करें वे उसे ईश्वर का प्रसाद मानते हैं। एक बार वे ऐसा नियंत्रण हासिल कर लेते हैं तो फिर उनके अनुयायियों की मस्तिष्क की तार्किक क्षमता लगभग समाप्त हो जाती है। गुरमीत सिंह के मामले में भी यह लगभग सौ प्रतिशत सही है।

आज से 15 वर्ष पहले एक न्यायाधीश ने राम रहीम के आश्रम के संबंध में एक विस्तृत जांच की थी। यह जांच उन्होंने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के आदेश पर की थी। उन्होंने अपनी जांच रिपोर्ट में कहा था कि गुरमीत सिंह का आश्रम धार्मिक स्थल कम एक व्यवसाय का केन्द्र ज्यादा है। इस तरह के लोगों का प्रभाव कितना रहता है इस बात का उल्लेख इस रिपोर्ट में किया गया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि हथियारों से लैस लोग पूरे आश्रम में बिना किसी बाधा के उपस्थित रहते थे। गुरमीत सिंह से मिलने के लिए अनेक प्रभावशाली व्यक्ति, विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्री, पंजाब और हरियाणा के प्रभावशाली राजनीतिक नेता, शासकीय अधिकारीगण, डॉक्टर, इंजीनियर, बड़े व्यवसायी, उद्योगपति आए दिन आते रहते थे। इनके आश्रम में सौ से ज्यादा साध्वियां रहती थीं। स्वयं गुरमीत सिंह अंडरग्राउंड में बने एक विशाल महल में रहते थे, जिसे गुफा कहा जाता था। इस गुफा में किसी का भी प्रवेश वर्जित था, जिसे वे चाहते थे वही इस गुफा में आ सकता था। सभी साध्वियों को एक होस्टल में रखा जाता था और इस होस्टल में भी सभी का प्रवेश वर्जित था। कोई भी व्यक्ति बिना बाबा की अनुमति के इस महल में नहीं जा सकता था।

इस तरह के बाबा हमारे देश में पहले से भी पैदा होते रहे हैं और आज भी हैं। दिनांक 26 अगस्त के 'टाईम्स ऑफ इंडिया' में इस तरह के साधुओं की एक लंबी सूची छपी है। इस सूची में हरियाणा के रामपाल नाम का एक साधु शामिल है। रामपाल नाम के इस साधु पर हत्या और अनेक किस्म के आरोप लगे थे, जब उसको सज़ा सुनाई गई थी तब उसके अनुयायियों ने सात दिन तक ट्राफिक रोक कर रखा था। 42 बार उसने अदालतों द्वारा भेजे गए समन स्वीकार नहीं किए। उनके अनुयायियों ने बड़ी मुश्किल से उसे गिरफ्तार होने दिया था। जिस कक्ष में वह रहता था वहां पांच महिलाओं की लाश मिली थी। उसके अतिरिक्त वहां 18 महीने का एक बच्चा भी मिला था। इसी सूची में पंजाब के आशुतोष महाराज का नाम भी शामिल है। ये दिव्य ज्योति जागृति संस्थान के संस्थापक हैं। इनकी मृत्यु के बाद इनका अंतिम संस्कार नहीं होने दिया गया था। हाईकोर्ट के एक आदेश के अनुसार इनके मृत शरीर को एक डीप फ्रीजर में रखा गया था। इस सूची में बंगाल के बालक ब्रह्मचारी भी शामिल हैं। इनकी मृत्यु 1953 में हो गई थी, परंतु उनका अंतिम संस्कार मृत्यु के 55 दिन बाद हो सका और वह भी 450 पुलिस कर्मियों की सहायता से। चार घंटे की जद्दोजहद के बाद उनके 2000 अनुयायी आश्रम पहुंचे जहां उनका मृत शव रखा हुआ था। उनके आश्रम में कुछ बम भी पाए गए। आनंद मूर्ति ऐसा ही एक बड़ा नाम है जिन्होंने आनंद मार्ग की स्थापना की थी। वे पेशे से पहले पत्रकार थे और बाद में उन्होंने रेलवे में नौकरी की। उनका दावा था कि उनके चालीस लाख अनुयायी हैं। भारत के अलावा लगभग 85 देशों में उनके अनुयायी थे। उनकी गिरफ्तारी के बाद पूरे देश और विदेशों में उनका आंदोलन किया था। आनंद मूर्ति पर आरोप था कि उनके सदस्य हिंसक गतिविधियों में संलग्न रहते हैं।

इसी तरह स्वयं को ईश्वर मानने वाले नित्यानंद नाम के

एक व्यक्ति हैं। वर्ष 2010 में इनका एक फूटेज सामने आया जिसमें इन्हें एक तमिल अभिनेत्री के साथ यौन संबंध करते हुए पाया गया था। इन पर भी बलात्कार करने के आरोप लगाए गए थे।

आशाराम इस समय जेल में हैं। इनके भी अनुयायियों की संख्या लाखों में बताई जाती है। आध्यात्मिक पुरूष बनने के पहले इनका धंधा साईकिल सुधारने का था। इन पर एक नाबालिग बच्ची के साथ बलात्कार का आरोप लगाया गया है। इस आरोप के कारण वे जेल में हैं। इस आरोप से संबंधित कुछ गवाहों की हत्या करवा दी गई है। आरोप है कि इन हत्याओं में आशाराम के अनुयायियों का हाथ है।

इसी तरह के एक और व्यक्ति हैं इच्छाधारी भीमानंद। ये एक होटल में गार्ड का काम करते थे। इनका नाम श्री मूरथ द्विवेदी है। ये 2010 में एक सैक्स रैकेट संचालन करने के आरोप में गिरफ्तार किए गए थे। ऐसे ही एक तथाकथित आध्यात्मिक व्यक्ति चंद्रास्वामी थे। इनका वास्तविक नाम नेमीचंद जैन है। इनके प्रधानमंत्री पीवी नरसिंहाराव से नज़दीकी संबंध थे। राजीव गांधी की हत्या में इनकी भूमिका की जांच की गई थी। इसी सूची में संत भिंडरावाले भी शामिल हैं जिन पर लाखों सिक्खों की अगाध श्रद्धा थी। आरोपित है कि उन्होंने अमृतसर के स्वर्ण मंदिर को हथियार की एक छावनी बना लिया था। बाद में इनसे छुटकारा पाने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने आपरेशन ब्लूस्टार किया था जिसमें वे मारे गए थे। इस तरह के जितने भी तथाकथित गॉडमैन हैं वे सभी किसी न किसी अपराध में संलग्न पाए गए हैं। परंतु सब से चैंका देने वाली बात यह है कि उनकी आपराधिक पृष्ठभूमि जानने के बाद भी उनके अनुयायी उनके लिए अपनी जान देने को भी तैयार रहते हैं।

इस तरह के सभी साधु संतों के जब अपराध सामने आए हैं तो उनके विरूद्ध कार्यवाही करना हमेशा कठिन कार्य रहा है। इसका एक कारण यह भी होता है कि इनके कुछ अनुयायी पुलिस फोर्स में भी रहते हैं। जैसे अभी गुरमीत के समर्थकों को नियंत्रित करने में पुलिस के एक बड़े तबके ने लगभग मौन धारण कर लिया था। एक समाचार के अनुसार जब सुरक्षाकर्मी भागते हुए नज़र आ रहे थे उसी बीच अनिल कुमार नाम के पुलिसकर्मी ने जो प्रसिद्ध पहलवान भी हैं, कर्तव्यपरायणता का अद्भुत उदाहरण पेश किया था। वे गुरमीत के समर्थकों को सिर्फ एक डंडे से नियंत्रित करते दिख रहे थे इसके ठीक विपरीत जिन पुलिसकर्मियों के हाथों में बंदूकें थीं वे भागते दिखाई दे रहे थे। उनको संबोधित करते हुए अनिल कुमार कह रहे थे ''तुम सब शर्म से डूब मरो''।

वैसे भी ऐसे अवसरों पर जब भीड़ हिंसक हो जाती है तब पुलिस उसे नियंत्रण करने में असफल ही रहती है। इसका मुख्य कारण यह रहता है कि इस तरह की भीड़ को अप्रत्यक्ष राजनीतिक संरक्षण प्राप्त रहता है। जैसे 1984 में सिक्खों का कत्लेआम हो रहा था तब पुलिस लगभग तटस्थ बनी रही। क्योंकि यह आरोपित है कि उस समय यह संदेश फैला दिया गया था कि पुलिस तटस्थ रहे। इसी तरह की स्थिति वर्ष 2002 में गुजरात में हुई थी। जब गोधरा स्टेशन पर 56 कारसेवकों की आगजनी में मृत्यु के बाद पुलिस को मौखिक तौर पर यह आदेश दे दिए गए थे कि वे 72 घंटे तक हिन्दुओं के आक्रोश को प्रकट होने दें और किसी प्रकार की बाधा न पहुंचाएं। इसी का नतीजा हुआ कि हज़ारों की संख्या में मुसलमान मारे गए, उनके घर जलाए गए और उनकी संपत्ति लूटी गई। पिछले दिनों जो जाटों का आंदोलन हुआ था उस समय भी पुलिस की लगभग ऐसी ही भूमिका रही। मध्यप्रदेश में पिछली माह जून में जो किसानों का आंदोलन हुआ उस समय भी पुलिस से यह कह दिया गया था कि वह किसानों के विरूद्ध सख्ती का उपयोग न करे। यदि आमतौर पर पुलिस को इस तरह के आदेश दिए जाते रहेंगे तो वह क्यों अपनी जान जोखिम में डालकर हिंसक आंदोलनकारियों पर नियंत्रण करने का प्रयास करेंगे। यदि पुलिस और प्रशासन को अपने विवेक से जब कार्यवाही करने का अवसर दिया जाता है तो वे प्रायः इस काम में सफल होते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण मध्यप्रदेश का है। बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद मध्यप्रदेश के कुछ शहरों में दंगे हुए। भोपाल के इतिहास में पहली बार सांप्रदायिक दंगा हुआ जिसमें लगभग 140 लोगों की जानें गईं। यहां दंगे पर नियंत्रण पाने के लिए अंततः सैना को बुलाना पड़ा। ठीक इसके विपरीत इंदौर में जो सांप्रदायिक तनाव के लिए जाना जाता था, 1992 में एक भी घटना नहीं हुई। क्योंकि वहां पर पदस्थ इंदौर संभाग के आयुक्त विजय सिंह ने सख्त आदेश जारी किए थे कि इंदौर शहर में किसी भी प्रकार की घटना नहीं होनी चाहिए और इसलिए लिए उन्होंने सारी जिम्मेदारी पुलिस अधिकारियों को दी थी। नतीजे में इंदौर पूरी तरह शांत रहा।

वर्ष 1993 में दिग्विजय सिंह मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री बने। उनके दस वर्ष के कार्यकाल में मध्यप्रदेश में एक भी बड़ी साम्प्रदायिक घटना नहीं हुई। क्योंकि इस संबंध में उनका रवैया अत्यधिक सख्त था और प्रशासन और पुलिस को इस बात के कड़े आदेश थे कि वे किसी भी हालत में सांप्रदायिक हिंसा भड़कने न दें। यहां तक कि 2002 में जब

मध्यप्रदेश के पड़ोस गुजरात में हिंसक घटनाएं हो रही थीं उस समय मध्यप्रदेश पूरी तरह से शांत रहा।

इसी तरह जब 1984 में सिक्ख विरोधी हिंसा देश के अनेक स्थानों पर फैली हुई थी उस समय बंगाल में एक भी सिक्ख का खून नहीं बहा। क्योंकि पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री ज्योतिबसु के स्पष्ट आदेश थे कि हर हालत में सिक्खों की जानमाल की रक्षा की जाए। जब ज्योतिबसु ने मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र दिया तो उनका कलकत्ता के सिक्खों ने सार्वजनिक अभिनंदन किया था। और उनका आभार माना था कि उन्होंने न सिर्फ हमारी जान बचाई बल्कि हमारी गरिमा को भी बचाया। जब भी राजनीतिक कारणों से पुलिस को तटस्थ रहने का आदेश दिया गया है उस समय ही इस तरह की हिंसक घटनाएं होती हैं, जो पिछले दिनों से हरियाणा और उसके आसपास के राज्यों में हो रही थी। इसका सबक यह है कि कानून और व्यवस्था के मामले में राजनीतिक अवसरवादिता को बाधक नहीं बनने देना चाहिए।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार व धर्मनिरपेक्षता के प्रति प्रतिबद्ध कार्यकर्ता है)

सत्याग्रह के प्रयोग को भूलता देश

डॉ. कश्मीर उप्पल

वर्ष 2017 गांधी के चम्पारण आंदोलन का षताब्दी वर्ष हैं। आंदोलन के 100 वर्ष पूरे होने पर जश्न मनाया जा रहा हैं, वहीं दूसरी ओर देष का किसान दिल्ली, मध्यप्रदेश, हरियाणा आदि राज्यों में आंदोलन करने के लिए मजबूर है। गौरतलब है कि सौ बरसों में गुलाम भारत के किसानों और आज़ाद भारत के किसानों की स्थिति में कितना फ़र्क़ हुआ? आज भी गांधी के सत्याग्रह के प्रयोगों से कुछ न सीखने की प्रवृत्ति व्याप्त हैं। महात्मा गांधी का अनुभव एवं मार्गदर्शन देश को बेहतर बनाने में प्रासंगिक है। इन्हीं परिप्रेक्ष्य पर रोशनी डालता प्रस्तुत आलेख। -का.सं.

महात्मा गांधी के चम्पारण किसान आंदोलन के शताब्दी वर्ष में मध्यप्रदेश में हो रहे हिंसक किसान आंदोलन ने कई सवाल खड़े कर दिये हैं। इन सवालों के उत्तर सत्ता पक्ष और विपक्ष दोनों के पास नहीं हैं। इनके द्वारा कुछ सतही किस्म के प्रश्न उठाये जा रहे हैं। राजनीतिक दलों द्वारा कही जा रही बातों से ऐसा लग रहा है कि किसान आंदोलन की आग में अपनी-अपनी चुनाव की रोटियां सेंकी जा रही है। इस संबंध में सरकार द्वारा गठित कोई भी आयोग शासन और प्रशासन की परम्परा से अलग कोई बात नहीं कह सकेगा।

ऐसे समय पर हमें स्मरण करना चाहिए कि हमारे देश की सरकारों ने महात्मा गांधी को भुलाये रखा है। वैष्वीकरण की नीतियों के दुखद परिणामों के फलस्वरूप विश्व के कई देशों में गांधी को याद किया जा रहा है। ठीक ऐसे समय भारत में सरकारें न सिर्फ गांधी को भुलाने वरन् उनके कामों को विरूपित करने की कोशिश भी कर रही है। भारतीय संस्कृति का दंभ भरने वाले यह भूल रहे हैं कि महात्मा गांधी भारतीय संस्कृति और परम्परा के प्रतीक पुरूष हैं। वैष्णव जन और सबको सम्मति दे भगवान की लय में पूरे समाज को बांध देने वाले गांधी को भूलकर हम किसी अंधी-खोह में तो प्रवेश नहीं कर रहे हैं ?

यह वर्ष 2017 गांधी के चम्पारण आंदोलन का शताब्दी वर्ष है। पूरे विश्व में यह परम्परा है कि किसी भी शताब्दी वर्ष में उस घटना, आंदोलन और महापुरूष के कामों और आदर्षों का पुनरावलोकन किया जाता है। इस समय प्रथम वर्ष युद्ध के घटनाक्रम से नया कुछ सीखने और समझने के प्रयास हो रहे हैं तो क्यों न हम चम्पारण आंदोलन के इस शताब्दी वर्ष में यह याद करें कि एक अहिंसक किसान आंदोलन का महत्व क्या होता है ?

यह हमारा सौभाग्य ही है कि पत्रकारिता में परिचित नाम अरविंद मोहन की एक साथ तीन पुस्तकें चम्पारण सत्याग्रह पर प्रकाशित हुई हैं। यह स्मरणीय है कि अरविंद मोहन का जन्म चम्पारण के गांधीवादी परिवार में हुआ था। यह परिवार कितना गांधीवादी था इसका पता इस बात से चलता है कि परिवार के लगभग छः लोग स्वतंत्रता संग्राम में जेल गये थे। इस परिवार के शादी विवाह में भी बिरादरी और कुल-गौच की जगह स्वतंत्रता आंदोलन के समय कांग्रेसी होने और जेल जाने का रिकार्ड देखा जाता था।

चम्पारण सत्याग्रह पूर्णतः किसानों का सत्याग्रह था। इस संबंध में महात्मा गांधी अपनी आत्मकथा में लिखते है

कि सत्याग्रह में चम्पारण के लोगों ने खूब शांति रखी। यही कारण है कि चम्पारण में सदियों पुरानी बुराई छः माह में दूर हो गई। अरविंद मोहन लिखते है कि गांधी ने चम्पारण में किसी क्रांति का नाम नहीं लिया, कोई सत्ता उखाड़ने का आव्हान नहीं किया, हिंसक बदलाव के वकालत नहीं की, किसी जाति, किसी मजहब का नाम नहीं लिया, मुश्किल से हिन्दी बोली पर ज्यादातर उसी का प्रयोग किया, कोई भूख हड़ताल भी नहीं की और हिंसक रूझान दिखने पर सब कुछ छोड़कर उस पर पहले ध्यान दिया अंग्रेज हुक्मरानों ही नहीं निलहों से भी स्नेह का व्यवहार किया।

गांधीजी ने खुद सत्याग्रही के लिए जो ग्यारह नियम बनाये थे, उन सबको वह अपने पर लागू करने के साथ आजमा चुके थे। गांधीजी ने चम्पारण में चन्दा न लेने का साफ फरमान सुना दिया था। वर्तमान में यह स्पष्ट देखा जा रहा है कि अच्छे-अच्छे आंदोलन चंदा के विवाद में असफल हो रहे हैं। गांधीजी के निर्देश आज के आंदोलनकारियों के लिये एक मॉडल का काम करते हैं। उनके यह आदेश महत्वपूर्ण हैं कि कोई भी चम्पारण सत्यार्ग्रह के बारे में लिखे-बोले नहीं, भाषण-सभा न करें और अखबार वालों को दूर रखा जाए।

महात्मा गांधी अपनी आत्मकथा सत्य के प्रयोग में मीडिया के संबंध में लिखते हैं कि अपनी जांच के लिये मुझे सरकार की ओर से तटस्थता की तो आवश्यकता थी, परन्तु समाचार पत्रों की चर्चा और उनके संवाददाताओं की आवश्यकता न थी। यही नहीं बल्कि उनकी आवश्यकता से अधिक टीकाओं और जांच की लम्बी चैडी रिपोर्टों से हानि होने का भय था। इसीलिए मैंने खास-खास अखबारों के सम्पादकों से प्रार्थना की थी वे रिपोर्टर को भेजने का खर्च न उठायें, जितना उपयोगी जरूरत होगी उतना मैं स्वयं भेजता रहूंगा और उन्हें खबर देता रहूंगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारे समय के अधिकांश आंदोलनों के असफल होने का कारण गांधीजी के प्रयोगों से कुछ न सीखने की प्रवृत्ति हैं। हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन के आदर्श के मापदंड गांधी के मार्ग में ही मिलते हैं। आधुनिक जीवन की आपाधापी में गांधीजी का अनुभव एवं मार्गदर्शन हमारे समाज और देश को और अधिक बेहतर बनाने का काम करता हैं। इसके लिये जरूरी है कि हमारी सरकार और हमारा समाज गांधी (विचार) के पास जाए। (सप्रेस)

●

किसान का श्रममूल्य

विवेकानंद माथने

प्रत्येक मनुष्य को अपने परिवार की बुनियादी आवश्यकताएं पूरी करने के लिये आजीविका मूल्य प्राप्त करना उसका मौलिक अधिकार है। मनुष्य को दिनभर काम के बदलें मिलनेवाला परिश्रम मूल्य उसके परिवार का पोषण मूल्य प्राप्त करने के लिये पर्याप्त होना चाहिये। जिससे परिवार की आहार, आवास, स्वास्थ, शिक्षा आदी बुनियादी आवश्यकताऐं पुरी हो सके। भारत में संगठित क्षेत्र में पांच लोगों के परिवार के पोषण के लिये प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति 2400 किलो कैलरी के आधार पर एक दिन की मजदूरी निर्धारित की जाती है। काम अगर कुशल श्रम के श्रेणी में हो तो इसके लिये अतिरिक्त मजदूरी आंकी जाती है। कठिन परिश्रम के लिये 2700 किलो कैलरी की आवश्यकता मानी गयी है। उद्योग जगत में वस्तु का उत्पादन मूल्य निर्धारित करते समय कर्मकारों की मजदूरी, लागत खर्च, प्रबंधन, व्यवस्थापन मूल्य के साथ मुनाफा जोडा जाता है। जिससे उद्योजक को एक उत्पादक के नाते आमदनी प्राप्त होती है।

किसान कुशल श्रमिक, प्रबंधक और उत्पादक है। खेती में शारीरिक, बौद्धिक श्रम करने पडते है इसलिये वह कुशल कार्य है। पूर्व मशागत, बुआई से फसल निकलने और बिक्री तक प्रबंधन एवं व्यवस्थापन, फसल की सुरक्षा आदी प्रबंधक और उत्पादक के सभी कार्य करने पडते है। इन सभी कार्यों के लिये आमदनी प्राप्त करना किसान का मौलिक अधिकार है और इस अधिकार का संरक्षण करने के लिये नीति निर्धारण करना लोक कल्याणकारी सरकार की जिम्मेदारी है। भारत का संविधान का अनुच्छेद 21, 23, 38(1), 38(2), 39, 41, 43, 46, 47 जनता के इस अधिकार का संरक्षण करता है। लोककल्याणकारी सरकार की जिम्मेदारी है की वह किसी का शोषण न होने दे और मौलिक अधिकार का रक्षण करें। संविधान में मजदूरी निर्धारण में किसी प्रकार के भेदभाव की अनुमति नही है।

सरकारी कर्मचारियों के लिये बने सातवे वेतन आयोग ने कैलरीज के आधार पर बेसिक मजदूरी निर्धारित की है। सरकारी कनिष्ठ श्रेणी के कर्मचारी की एन्ट्री पे प्रतिमाह 18 हजार रुपये निर्धारित की गई है। जो उसके नौकरी के कालावधि में औसत 24 हजार रुपये याने की 800 रुपये प्रतिदिन है। जैसे जैसे श्रेणी बढती है बिना किसी शास्त्रीय आधार के इसे गुना कर सर्वोच्य श्रेणी के कर्मचारी के लिये अन्य सुविधा के अलावा प्रतिमाह 2 लाख 50 हजार रुपये याने की 8300 रुपये दिन की मजदूरी मिलती है। परिवार में एक से अधिक सरकारी कर्मचारी होने पर भी प्रत्येक कर्मचारी को पूरे परिवार के लिये वेतन दिया जाता है। देश की 1 करोड नौकरशाही (आबादी के 4 प्रतिशत) के वेतन पर टैक्स प्राप्ति का लगभग 40 प्रतिशत हिस्सा खर्च किया जाता है। राज्य सरकारों के बजट की भी यही स्थिति है।

उद्योगपतियों को अमर्यादित लाभ कमाने की खुली छूट है। उसपर कोई नियंत्रण नही है। उद्योगपतियों को इंसेंटिव के नामपर हर साल लाखों करोड रुपये की टैक्स माफी और सुविधाएं दी जाती है। उपर से एनपीए में छुट भी दी जाती है। कम्पनियों में कुशल लोगों की सेवा प्राप्त करने के लिये उन्हे स्पर्धात्मक मजदूरी और अन्य सुविधाऐं दी जाती है। असंगठित कामगारों के लिये परिवार के दो लोगों को कर्मकारी मानकर मिनिमम वेजेस एक्ट के अनुसार प्रतिदिन 365 रुपये मजदूरी निर्धारित की गयी है।

लेकिन यह आश्चर्य है की कृषि प्रधान देश में, जहां का मुख्य समाज किसान है, आजादी के 70 साल बाद भी उसे मेहनत का मूल्य देने की व्यवस्था नही बनाई गई। कुशल श्रमिक, प्रबंधक और उत्पादक के नाते आमदनी देने की बात तो दूर सबसे आवश्यक सेवा के लिये कठिन मेहनत के बावजूद उसे न्यूनतम मजदूरी प्राप्त नही होती। फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) में शरीर श्रम के लिये प्रतिदिन केवल 92 रुपये मजदूरी मिलती है। खुले बाजार में वह भी मिलने की कोई गारंटी नही है। देश मे किसी भी काम के लिये मिलनेवाली मजदूरी में यह सबसे कम है। गरीबी रेखा से कम है। यह मजदूरी देश के संविधान में नागरिक को प्राप्त अधिकार, कानून एवं मिनिमम वेजेस ऐक्ट का उल्लंघन है। इस मजदूरी में परिवार की आजीविका की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति संभव नही है।

भारत में नागरिकों की मजदूरी में प्रचंड भेद किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को समान आधार पर मेहनत का मूल्य मिलना चाहिये। श्रममूल्य निर्धारण में शारीरिक-बौद्धिक

श्रम, संगठित-असंगठित, महिला-पुरुष का भेद करना अन्यायकारी है। सरकार को समान कार्य के लिये समान मजदूरी देने की संविधानिक जिम्मेदारी पूरी करनी चाहिये। अभी तक रोजगार के हर क्षेत्र में परिवार की आजिविका के लिये न्यूनतम मजदूरी सुनिश्चित नही की गयी है।

यह अन्यायकारी व्यवस्था कुछ कुतर्को पर खडी की गयी है। सरकारी कर्मचारियों के लिये वेतन बढाते समय कहां जाता है की स्पर्धात्मक वेतन न देने से बुद्धिमान लोग सरकार में नही आयेंगे। विदेश या निजी कम्पनियों में चले जायेंगे। उद्योग जगत की मुख्य प्रेरणा मुनाफा मानकर मालिक को लाभ कमाने की खुली छूट दी गई है। इतना ही नही उन्हे इंसेंटिव देना विकास के लिये जरुरी माना गया है। खेती छोडकर बाकी सभी वस्तुओं के दाम उत्पादक तय करते है और बेचते है। किसान अपने उत्पादन के दाम तय करें तब भी वह एक ऐसी व्यवस्था का शिकार है की उसे मजबूरन खरीदने वाला जो दाम देगा उसी में बेचना पडता है। उसके पास दूसरा कोई विकल्प नही रखा गया है। फसलों को मूल्य देने की जब मांग होती है तब देश में महंगाई बढेगी और एक ग्राहक के रुपमें किसान को ही महंगा खरीदना पडेगा इस कुतर्क के आधार पर उसे मेहनत का मूल्य देने के लिये आजतक कोई व्यवस्था नही बनाई गयी है। किसान के श्रम का शोषण करके देश में सस्ताई बनाये रखने का सरकार को कोई अधिकार नही है। सरकारें किसान से मुफ्त सेवा चाहती है।

किसान के लिये जानबूझकर एक शोषणकारी व्यवस्था बनाई गई है। जिसने उसे आत्महत्या करने के लिये मजबूर किया है। इसके सामने किसान समर्पण कर आत्महत्या करता है तो मृत्यु। वह अन्याय के खिलाफ उठ खडा होता है तो बंदूक की गोली से मृत्यु। आजकी शोषणकारी व्यवस्था यही चाहती है की किसान मरे। इसलिये आत्महत्या करने पर पांच लाख रुपये, बंदूक की गोली से मरने पर पचास लाख रुपये सरकारें देती है लेकीन किसान को जीवन देने के लिये उसके पास न कोई योजना है नाही उसपर विचार करने के लिये वह तैयार है। इस परिस्थिति को बदलने के नामपर सरकार जो नीतियां बना रही है उसमें भी किसान को मारने की ही योजना बनायी गयी है।

इन सभी तथ्यों से स्वामीनाथन अनभिज्ञ नही होंगे खासकर तब जब आयोग को खेती की आर्थिक व्यवहारता में सुधार कर किसान की न्यूनतम शुद्ध आय निर्धारण का काम सौपा गया हो। वह सरकार को कृषि फसलों के शास्त्रीय पद्धति से मूल्यांकन करने और उसके आधार पर श्रम मूल्य देने या सभी कृषि उपज के दाम देने के लिये वैकल्पिक योजना पेश कर सकते थे। लेकिन उन्होने ऐसा नही किया। तब आयोग की सिफारिशों पर प्रश्नचिन्ह खडा होता है।

स्वामीनाथन प्रथम हरित क्रांति के जनक माने जाते है। हरित क्रांति से कृषि उत्पादन तो बढा लेकिन किसानों पर दुतर्फा मार पडने से उनकी हालत तेजी से बिगडती गयी। विशिष्ट फसलों का उत्पादन बढने से फसलों की कीमत कम हुई। उत्पादन बढाने के लिये रासायनिक खेती को बढावा दिया गया। जिससे बीज, खाद, कीटनाशक, यंत्र का बढता इस्तेमाल, सिंचाई, बिजली आदि के लिये किसान की बाजार पर निर्भरता बढने से लागत खर्च बढा। जिससे लागत और आय का अंतर इस तरह कम हुआ की खेती घाटे का सौदा बनी और किसान कर्ज के जाल में फंसता चला गया।

हरित क्रांति में एक फसली पिक पद्धती को बढवा देने से जैव विविधता, फसल विविधता पर बुरा असर पडा। देश के बडे हिस्से में बहुफसली खेती एक फसली खेती में परिवर्तित हो गयी। किसान को अपने खेती से पोषक आहार तत्व मिलना बंद हुआ तथा पूरे देश में रासायनिक खेती के कारण खाद्यान्न और पानी में जहर घुलने से भोजन जहरीला बना दिया। इस प्रकार प्रथम हरित क्रांति किसानों की लूट करने, थाली में जहर पहुंचाने और जैवविविधता को प्रभावित करने के लिये कारण बनी। किसानों के बर्बादी में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

स्वामीनाथन अपनी शिफारिशों को दूसरी हरित क्रांति या सदाबहार हरित क्रांति कहते है। जिसमें कृषि उत्पादन बढाने के लिये जी एम बीज, सिंचाई की व्यवस्था, फसल बीमा, कृषि ऋण का विस्तार, समूह खेती, गावों मे गोडाउन और रास्ते की व्यवस्था आदि की सिफारिश की गयी है। लेकिन यह सारी व्यवस्थाऐं किसानों को खेती से हटाकार कार्पोरेट खेती को बढावा देने के लिये की जा रही है। सरकार इसी रास्ते चलकर किसानों को खेती से हटाना चाहती है। वह खेती पर केवल 20 प्रतिशत किसान रखना चाहती है जो पूंजी और तकनीक का इस्तेमाल कर सके। कृषि, बीमा, बैंकिंग में एफडीआई, जी एम बीज, ठेके की खेती, आधुनिक खेती पद्धति और इजराईल खेती आदी को बढावा देने की तैयारी इसीलिये की जा गयी है।

स्वामीनाथन आयोग ने एमएसपी में उत्पादन की भारित औसत लागत से 50 प्रतिशत अधिक मूल्य देने की सिफारिश की है। लेकिन जब उत्पादन मूल्य अन्यायकारी पद्धती से निर्धारित किया जाता हो। एमएसपी की व्यवस्था उत्पादन मूल्य देने के लिये नही है। तब एमएसपी में थोडी

बढोतरी से किसानों को न्याय मिलना संभव नही है। सवाल यह भी है की किसान को न्यूनतम क्यों मिलना चाहिये। जब चीजे इतनी स्पष्ट है तब कुछ किसान संगठनाऐं स्वामीनाथन आयोग की मांग क्यों कर रहे है यह समझ से परे है।

एमएसपी की संकल्पना ही मूलतः अन्याय पूर्ण है। एमएसपी फसल का उत्पादन मूल्य नही है। वह लागत मूल्य की न्यूनतम गारंटी कीमत है। वह किसान को केवल यह गारंटी देती है की, अगर उसकी फसलें एमएसपी से कम रेट पर बिकती है तो सरकार उसकी खरीद करेगी। राज्य सरकारों व्दारा अन्यायपूर्ण तरीकों से निकाले गये उत्पादन खर्च के साथ सीएसीपी (कृषि लागत और मूल्य आयोग) मांग एवं आपूर्ति, देश-विदेश में फसलों की कीमते, औद्योगिक लागत पर प्रभाव, महंगाई, खाद्य सुरक्षा, कृषि विविधता, अर्थव्यवस्था पर मूल्य नीति का प्रभाव इत्यादी 18 पैरामीटर के आधार पर उपज मूल्य को नियंत्रित करने के लिये और उसे बाजार मूल्य के आसपास कायम रखने के लिये एमएसपी निर्धारित करने की सिफारिश करता है। जिसके आधार पर केंद्र सरकार एमएसपी घोषित करती है।

राज्य सरकारों की फसलों के लागत मूल्य निकालने की पद्धति भेदभावपूर्ण, अवैज्ञानिक व अन्याय पूर्ण है। जिसमें आगत मूल्य, किसान के परिश्रम मूल्य, काम के दिन तथा बाजार मूल्य व न्यूनतम मजदूरी दरों संबंधित कानून का उल्लंघन करके वास्तविकता से कम, भेदभावपूर्ण आंका जाता है। बीज, खाद, कीटनाशक, सिंचाई, परिवहन आदि में लागत खर्च बहुत कम आंका जाता है। जिसमें किसानों को फसलों की लाभकारी कीमत मिलना तो संभव ही नही, मेहनत का उचित मूल्य मिलने की भी व्यवस्था नही है। एक अध्ययन के अनुसार एमएसपी वास्तविक लागत खर्च के एक तिहाई के आसपास होती है।

केंद्र सरकार हर साल 23 फसलों की एमएसपी घोषित करती है। लेकिन केवल पांच फसलें धान, गेहूं, कपास, गन्ना और रबर मर्यादित मात्रा में खरीदती है। विशेष परिस्थिति में किसी राज्य में एखाद फसल और खरीदी जाती है। सरकार द्वारा खरीद में केवल 6 प्रतिशत किसान कवर होते है। कुल कृषि उत्पादन का लगभग 6 प्रतिशत हिस्सा सरकारें खरीद पाती है। याने की देश के 94 प्रतिशत किसानों का 94 प्रतिशत कृषि उत्पादन दलालों के भरोसे बिकता है। शेकडो फसलों की न तो एमएसपी घोषित होती है नाही उसकी खरीद की कोई योजना है।

हमे देश में एक ऐसी नयी व्यवस्था बनानी होगी जिसके द्वारा संगठित-असंगठित भेद किये बिना 'एक देश एक श्रममूल्य' मिलने की व्यवस्था होनी चाहिये। देश में सबके लिये न्याय व समता के आधार पर मापदंड निर्धारित होने चाहिये। किसान को कुशल श्रम के लिये श्रममूल्य सुनिश्चित करना चाहिये। यह श्रममूल्य समकालीन वेतन आयोग व्दारा निर्धारित कर्मचारियों को दिये जा रहे अधिकतम श्रममूल्य के 10 प्रतिशत से कम नही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त किसान को प्रबंधन, व्यवस्थापन और फसलों की सुरक्षा आदि कार्य के लिये श्रम मूल्य तथा एक उत्पादक की आमदनी जोडकर निर्धारित किया गया फसल का उत्पादन मूल्य मिलना चाहिये। सरकारी खरीद में या खुले बाजार में उसे फसल का मूल्य नही मिल रहा हो ऐसी स्थिति में उचित श्रममूल्य वजा बाजार मूल्य में प्राप्त श्रममूल्य की अंतर राशी नुकसान भरपाई के रुपमें किसान को मिले ऐसी व्यवस्था बनानी होगी। किसान का शोषण हमे मंजूर नही। किसान को भीख नही अपना हक चाहिये। ●

भारत पर मूडीज

मूडीज द्वारा भारत की रेटिंग सुधारे जाने पर बल्ले-बल्ले करने जैसी क्या बात है? इस रेटिंग के सुधरने का सीधा सीधा मतलब यही तो है कि विदेशी कर्ज मिलना आसान होगा, विदेशी और देशी कंपनियों को आम देशवासियों को लूटना और आसान हो जायेगा और पगलाया विकास कुछ और तेज दौड़ने लगेगा। लेकिन इस रेटिंग के सुधरने से क्या किसानों की माली हालत में कोई सुधार होगा? क्या रोजगार के अवसर बढ़ जाएंगे? क्या महंगाई पर प्रभावी अँकुश लग पाएगा? अगर इन सवालों के जवाब अभी भी हां में नहीं आते हैं तो मूडी की रेटिंग सुधरने का लाभ कुछ मुट्ठी भर लोगों तक ही सीमित रहने वाला है - सरकार और उसके नाहक़ ही अपनी पीठ ठोंक रहे और गाल बजा रहें हैं।

–देवप्रिय अवस्थी

''जालिम का कहना मत मानो,
यही सिविल नाफरमानी है।''
- लोहिया

राष्ट्रीय किसान समन्वय समिति की कृषिमंत्री से मुलाकात

राष्ट्रीय किसान समन्वय समिति का 10 सदस्यीय प्रतिनिधि मंडल केंद्रीय कृषि मंत्री श्री. राधामोहन सिंह जी से मिला और कृषि नीति में समग्र परिवर्तन तथा किसानों की समस्याओं के समाधान के लिये दिये गये 26 सूत्री प्रस्ताव पर चर्चा की। लगभग 45 मिनट लंबी चर्चा के बाद, कृषिमंत्री ने स्वीकार किया कि 26 सूत्री प्रस्ताव के सभी मुद्दे महत्वपूर्ण है और इस पर एक एक करके प्रत्येक मुद्दे पर विस्तृत तथा गहराई से चर्चा करके समाधान निकालने की पेशकश की।

प्रतिनिधि मंडल ने संवाद जारी रखने का उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और इस चुनौती का सामना करने का निर्णय किया। इसके लिये प्रत्येक मुद्दे पर प्रस्तुति के लिये पाँच सदस्यीय विशेषज्ञ प्रतिनिधि नियुक्त कर बैठक की जायेगी।

सर्वप्रथम यह विशेषज्ञ समूह 26 सूत्री प्रस्ताव के कृषि उत्पादों के मूल्य निर्धारण से संबधित प्रथम और दूसरे बिंदु पर अपना प्रेजेन्टेशन एक परीक्षा और चुनौती के तौर पर सरकार के सामने रखेगा। कृषि उत्पादों के अन्यायपूर्ण मूल्यों के संबंध में किसानों की लंबे समय से लंबित शिकायतों का ध्यान रखना और उनकी देखभाल करने के लिए कृषिमंत्री सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं।

समन्वय समिति महसूस करती है कि सरकार द्वारा एमएसपी या खुले बाजार के रूप में प्रस्तावित कीमतों को तय करने के सिद्धांत, तर्कशास्त्र, मापदंड, विधि और फार्मूले, जो कि बड़े निगमों और बड़े पूंजी के पूरी तरह नियंत्रण में है, मौलिक रूप से गलत है। अन्य किसान संगठनों और समन्वयों की मांगों के विपरीत इसे समझने के लिए रा.कि.स.स. नई दृष्टि प्रस्तुत करती है।

हालांकि मंत्री महोदय से हुयी चर्चा रा.कि.स.स. के प्रतिनिधि मंडल की अपेक्षा के अनुरूप नही रही और मंत्री महोदय ने अधिकांश मुद्दों पर सरकार का पक्ष रखा और सरकारी योजनाओं का वर्णन किया। लेकिन उन्होंने इसके महत्व को समझते हुये संवाद का रास्ता खुला रखा है और यह निवेदन किया कि वह प्रत्येक बिन्दु पर रा.कि.स.स. अपनी भूमिका विस्तृत रूप से सरकार के सामने रखे।

किसान समूह हमारे समाज का सबसे वंचित समूह है जिसे उनके श्रम और कृषि प्रबंधन में लगे श्रम और कुशलता का मूल्य नहीं दिया जाता। यह हृदय विदारक तथ्य है कि किसानों के श्रम को न्यूनतम मजदूरी कानून से तय की गयी मजदूरी से नीचे अपना श्रम बेचने के लिये मजबूर किया जाता है। कृषि उत्पादों के उचित और न्यायपूर्ण मूल्यों के संबध में वैज्ञानिक तरीके से निर्धारण का प्रस्ताव हम सरकार को प्रस्तुत करेंगे।

राष्ट्रीय किसान समन्वय समिति किसानों की समस्याओं के स्थायी समाधान के लिये हर संभव प्रयास करने के लिये संकल्पबद्ध है। 26 सूत्री प्रस्तावों को लागू करने के लिये एक तरफ सरकार के साथ संवाद और दूसरी तरफ अपना अभियान और आंदोलन के कार्यक्रम जारी रखेंगे और बडे पैमाने पर समर्थन जुटायेंगे।

किसानों की कर्ज के जाल से स्थायी मुक्ति और न्यायपूर्ण सुनिश्चित आय के लिये रा.कि.स.स. ने 1 नवंबर से संपूर्ण किसान क्रांति सत्याग्रह शुरू किया था, जिसके पहले ही दिन केंद्रीय कृषि मंत्री ने रा.कि.स.स. के प्रतिनिधि मंडल के साथ बैठक करने के लिये पत्र दिया था। जिसके आधार पर एक सत्याग्रही समूह के नाते सत्याग्रह कार्यक्रम को स्थगित किया गया और उसी निर्णय के अनुसार 15 नवंबर को 1 बजे यह बैठक आयोजित की गयी थी।

राकिसस के प्रतिनिधि मंडल में संयोजक विवेकानंद माथने (महाराष्ट्र), समाजवादी जन परिषद के एडवोकेट जोशी जेकब (केरल), आजादी बचाओ आंदोलन के मनोज त्यागी (उत्तरप्रदेश), संयुक्त किसान मोर्चा छत्तीसगढ़ के पारसनाथ साहू (छत्तीसगढ), हाडौती किसान युनियन के दशरथ कुमार (राजस्थान), किसान जागृति संगठन के इरफान जाफरी (मध्यप्रदेश), जय जवान जय किसान संघ के सुनिल फौजी (राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र), गांव मोर्चा के रमणदिप मान (पंजाब), हरियाणा किसान संघर्ष समिति के दयाकिसन शर्मा (हरियाणा) और नवदान्य के इंद्रशेखर सिंह (दिल्ली) शामिल थे।

विवेकानंद माथने, संयोजक, राष्ट्रीय किसान समन्वय समिति, 9822994821.

केसला में आदिवासी-हक के लिए प्रदर्शन

मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के केसला ब्लॉक में 1985 में समता संगठन के दो साथियो, राजनारायण व सुनील, ने किसान आदिवासी संगठन की स्थापना की। उस क्षेत्र के निवासी तवा बाँध, आर्डिनेंस फैक्टरी व उससे जुड़े प्रूफ रेंज बनने के कारण, तीन बार विस्थापित हुए थे।

खेती चली गयी, और रोज़गार नहीं मिला।सरकार ने वादे के मुताबिक अन्य जगह ज़मीं के पट्टे भी नहीं दिए। किसान आदिवासी संगठन ने कई बार पट्टे पाने के लिए आंदोलन किया। आंशिक सफलता मिली; सही, ज़्यादातर गलत लोग उन ज़मीनों पर काबिज़ हो गए।

दस साल पहले जब वनाधिकार कानून आया, तब तत्कालीन सरकार ने कहा था कि अंग्रज़ों के समय से आदिवासियों हक़ छीना गया है, हम उनके हक़ उनको वापस कर हैं। विस्थापन के एवज के ज़मीन का का हक़, जंगल से निस्तार का हक़ इसमें शामिल थे। हालत जस के तस हैं, या बदतर हैं। गरीबों से, आदिवासिओं को म. प्र. सरकार जल,जंगल ज़मीन से बेदखल, और देशी व विदेशी कंपनियों को सस्ते में सैंकड़ो एकड़ ज़मीन दे कर भी लाखों का मुनाफा कमा रही हैं। होशंगाबाद जिले में कोका कोला कंपनी को 150 एकड़ ज़मीन देने की सरकारी योजना हैं।

आज भारत में किसानों, आदिवासियों को कमरतोड़ मेहनत के बाद भी उचित ख़रीद मूल्य या मेहनताना नहीं मिल पाता, और जो बहुत कम मेहनत करते हैं, उनको ज़्यादा पैसे मिलते हैं।

इन मुद्दों को ले कर जंगलात वाले क्षेत्र के गाँवों में वन विभाग द्वारा अतिक्रमण के कारण बेदखल हुए ग्रामीणों के में समाजवादी जनपरिषद व किसान आदिवासी संगठन के साथियों ने 25 अक्टूबर को केसला ब्लॉक में विशाल धरना व जुलूस किया। इसमें तक़रीबन 750 लोग शामिल हुए, और 'हम अपना अधिकार माँगते, नहीं से भीख माँगते !' व 'वोट हमारा, राज तुम्हारा, नहीं चलेगा, नहीं चलेगा !' जैसे नारों और ब्लॉक पर मीटिंग कर, 9 सूत्री मांग पात्र को नायब तहसीलदार को कार्रवाई हेतु दिया। कार्यक्रम में प्रमुख रूप से श्रीमती गुलिया बाई, दिनेश, रावल सिंह शरीक थे व जनपद सदस्य व स.ज.प. राष्ट्रीय सचिव फागराम ने कार्यक्रम को सफल बनाने में अथक परिश्रम किया।

नौ माँग सूत्रों में प्रमुख हैं - वन क्षेत्र में पट्टों को तामील किया जाये; 2017 श्रम कानून की तहत मजदूरी मिले ; मजदूतों भुगतान मिले; केसला क्षेत्र के तालाबों से किसान सिंचाई का पानी ले सके ; गरीबों को आवास पट्टा दिया जाये; क्षेत्र स्कूलों में विषय-वार शिक्षक दिए जाएँ एवं सामाजिक सुरक्षा पेंशन का पैसा बढ़ाया जाये।

बिना संघर्ष किये फल नहीं मिलेगा इस बात पर सभा में वक्ताओं ने बार बार ज़ोर दिया। —***राजीव बामने***

लोहिया: आज ज़रूरी क्यों!

समाजवादी जनपरिषद की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के निर्णय के अनुसार 12 अक्टूबर को सम्पूर्ण देश में डॉ. राम मनोहर लोहिया की पुण्यतिथि के दिन उनकी स्मृति में कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। इसका उद्देश्य लोहिया के विचारों और कार्यक्रमों से आम जन और विशेष रूप से नई पीढ़ी और युवाओं को परिचित कराना और उन्हें देश और दुनिया की दशा-दिशा से अवगत् कराते हुए देश के नवनिर्माण के लिए जागरुक करना था। समाजवादी जनपरिषद की वाराणसी इकाई द्वारा इस दिन वाराणसी में रैदास गेट, लंका पर लोहिया के सामाजिक-आर्थिक विचारों को चित्रित करते हुए एक बड़ी पोस्टर प्रदर्शनी लगाई गयी। इसमें विशेष रूप से दलित, महिला और युवाओं से सम्बन्धित विषयों को लोगों के सामने रखा गया। पोस्टरों के माध्यम से लोहिया द्वारा आज़ाद भारत में गरीबी और गैरबराबरी को मिटाने के लिए हुकुमत के खिलाफ़ बुनियादी लड़ाई की मुहीम को सामने रखने की कोशिश की गई। प्रदर्शनी का उद्घाटन वरिष्ठ समाजवादी साथी श्री विजय नारायण जी ने किया। इस अवसर पर उन्होंने डॉ. लोहिया

के संघर्ष के तरीकों और समाजवादी विचारों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता की चर्चा करते हुए यह भी कहा कि लोहिया ने हमारे देश में समाजवादी सिद्धान्तों और कार्यक्रमों को महात्मा गाँधी के अहिंसा और स्वराज के दर्शन से जोड़ने का जो कार्य किया उसने भारतीय समाजवाद को एक अलग पहचान दी। इस संक्षिप्त सभा के बाद साथियों ने लोहिया के चिर परिचित नारे लगाए। 'डॉ. राम मनोहर लोहिया आज ज़रूरी क्यों' शीर्षक से सजप की उ्पर प्रदेश राज्य इकाई की ओर से तैयार किए गए पर्चे का वितरण भी किया गया।

लंका के प्रमुख चैराहे पर यह सम्पूर्ण कार्यक्रम अपरान्ह 2बजे से प्रारम्भ होकर सायं 5 बजे तक चला जो राहगीरों के साथ ही विश्वविद्यालय तथा अन्य संस्थाओं के छात्र-छात्राओं के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा। रिक्शा चालक, रेड़ी वालों, आस-पास काम में लगे मजदूरों सहित आम जन ने भी इसमें पर्याप्त रुचि जताई। इसमें सजप के वाराणसी नगर और जिले के लगभग सभी साथियों के साथ ही अन्य सहमना वरिष्ठ एवं युवा साथियों व आगन्तुकों की भी उपस्थिति रही। प्रमुख साथियों में डॉ. स्वाति, डॉ. नीता चौबे, डॉ. मुनीज़ा, अफलातून, चंचल मुखर्जी, सुरेश भाई, संतोष, मकसूद, नज़रु उस्ताद, डॉ. आनन्द कुमार यादव, राजेश कुमार यादव, रामदयाल, लोलार्क द्विवेदी, सुनील कश्यप, राजेन्द्र चौधरी, डॉ. महेश विक्रम आदि सम्मिलित थे।

वाराणसी के अतिरिक्त केसला, होशंगाबाद, म.प्र., बिहार, उड़ीसा, उत्तर बंगाल, रांची, जयपुर, महाराष्ट्र, कर्नाटक और केरल के साथियों ने भी डॉ. लोहिया की मृत्यु के 50 वर्ष पूरे होने पर कार्यक्रम आयोजित किये।

युवा संवाद शिविर

समाजवादी जनपरिषद की वाराणसी इकाई द्वारा सर्वसेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी में त्रिदिवसीय युवा संवाद शिविर का आयोजन किया गया।इस के मुख्य प्रशिक्षक गुजरात से आए हुए, तरूण शान्ति सेना के पूर्व राष्ट्रीय संयोजक रहे अशोक भार्गव व समता आंदोलन और जन आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय से जुड़े और मुम्बई विश्वविद्यालय इंजीनियरिंग के प्रोफ़ेसर सञ्जय मङ्गला गोपाल रहे। छोटे छोटे समूहों में शिविरार्थियों को बाँट कर, उन्हें सैद्धांतिक विमर्श का प्रशिक्षण गया। इन तीन दिनों में आर्थिक नीति, बेरोज़गारी, कृषि नीति, शिक्षा, साम्प्रदायिकता, सामाजिक विषमता पर विस्तृत चर्चा चलाई। जिसमें निष्कर्ष रूप में यह बात सामने आई कि भारत जो कृषि प्रधान देश है, कृषि एवं कुटीर उद्योगों में रोज़गार की अपार संभावनाएं होने के बावजूद उनसे अपेक्षित लाभ लोगों को नहीं मिल पा रहा है, उसके विपरीत उन्हें कौशल विकास जैसी सरकारी योजनाओं में फंसा कर, उनकी ऊर्जा का शोषण किया जा रहा है और वास्तविकता से दूर हतोत्साही माहौल में जीने को मजबूर किया जा रहा है।

पर्यावरण और विकास संबंधों को, सच्चा देश प्रेम क्या हैं और बाकि सत्रों में शिविरार्थियों ने बढ़ कर हिस्सा लिया। समाज में व्याप्त कुरीतियों के बारे में युवाओं ने अपने वक्तव्य रखे। बनारस के शहरी एवं ग्रामीण इलाकों एवं मऊ ,आजमगढ़ एवं जयपुर से 14 से 40 वर्ष के विद्यार्थी व किसान, बुनकर एवं शिक्षक समेत लगभग 60 शिविरार्थी थे.

अन्य प्रशिक्षकों में समाजवादी जन परिषद के प्रांतीय अध्यक्ष प्रो. महेश विक्रम सिंह, राष्ट्रीय महामंत्री अफ़लातून, मीडिया विजिल के संपादक पंकज श्रीवास्तव, अब्दुल्लाह अंसारी, मुनीजा खाँ व डॉ. स्वाति थे।

इस शिविर के बाद युवाओं ने एक दुसरे के धार्मिक उत्सवों में शरीक होना, जाति तोड़ो के कार्यक्रम बनाने व हर माह पड़ोस के ग्रामीण क्षेत्र , लोहता , चिरईगाँव व मऊ में एक द्विवसीय शिविर रखने का संकल्प लिया गया।

अंतिम दिन के खुले सत्र 'विकल्प हीन नहीं हैं दुनिया' सजप के दिवंगत नेता लब्ध -प्रतिष्ठित समाजवादी चिंतक, श्री किशन पटनायक की स्मृति को समर्पित था। इस सत्र की अध्यक्षता वयोवृद्ध गाँधीवादी श्री अमरनाथ भाई ने की। इसे अशोक भार्गव जी, महेश विक्रम जी, अब्दुल्लाह खान साहब व युवा सामाजिक कार्यकर्त्ता रमन पंत ने सम्बोधित किया। वैकल्पिक अर्थनीति, विकास नीति, रोज़गार के तरीके पर बात राखी गयी। इसी सत्र में प्रख्यात सामाजिक कार्यकर्त्ता, तीस्ता सेतलवाड़, वैकल्पिक इतिहास दृष्टि पर अपने विचार रखने वाली थी, मगर वाराणसी के दब्बू प्रशासन ने उन्हें बनारस गिरफ्तार कर 'जिला-बदर' कर दिया, इस डर से कि वे बीएचयू जाएँगी।

शिविर का सफल सञ्चालन सजप के राष्ट्रीय कार्यकारिणी की सदस्य डा. नीता चौबे ने किया। इसका संयोजन श्री संतोष, महामंत्री, सजप, जिला वाराणसी ने किया।

जयपुर में संवाद

सात जून को शाम 5.00 बजे। आधुनिक विकास, आदिवासी और प्रतिरोध विषय पर समिति भवन में 'संवाद' कार्यक्रम आयोजित हुआ। प्रमुख वक्ता थे अफलातून। श्री अफलातून वाराणसी से प्रकाशित होने वाली समाजवादी पत्रिका 'सामयिक वार्ता' के संपादन से जुड़े हैं। वे एक सक्रिय एवं सजक समाजवादी कार्यकर्ता हैं। अफलातून को एक समतावादी समाज बनाने का एवं हमारे समाज में पनप रही भयावह विषमता को मिटाने का कार्य करते कई बरस बीत गये हैं। अफलातून का रास्ता सत्याग्रह एवं अहिंसा का रास्ता है। वे अहिंसक प्रतिरोध में विश्वास करते हैं और उनके सैकड़ों साथी लोग भी अहिंसक आंदोलन के रूप में एक नया आंदोलन जो पिछले दिनों सामने आया है वह आंदोलन है **नियमगिरी के आदिवासी लोगों का**। नियमगिरी उड़ीसा के कालाहांडी जिले का एक छोटा क्षेत्र है। हरे जंगलों से भरा एवं सदा पेड़ों में छिपा हुआ यह अंचल आदिवासियों को शहरी प्रभाव से बहुत दूर रख कर कुदरत के साथ जीने में सहयोग करता है। वे लोग सचमुच वनवासी लोग हैं और अधिकतर आदिवासी लोगों की एतरह नियमगिरी के आदिवासी भी एक अहिंसक आंदोलन चला रहे हैं। यह आंदोलन ऐसा अहिंसक आंदोलन है जिसने सरकार को अपना फैसला बदलने के लिए बाध्य कर दिया है। इसी अहिंसक संघर्ष की कहानी साझा करने के लिए अफलातून हमारे साथ थे। उन्होंने आंदोलन की शुरुआत से सर्वोच्च न्यायालय के फैसले तक की बात से सबको रूबरू करवाया। उनका कहना था कि छोटी हिंसा को दबाने के लिए आप उससे बड़ी हिंसा का प्रयोगा कर सकते हैं पर अहिंसा को आप हिंसा से नहीं दबा सकते और यही उड़ीसा के नियमगिरि में हुआ।

नियमगिरी पर्वत में बॉक्साइट खदान पर वेदांता कंपनी अपना कब्जा चाहती थी पर वहाँ के आदिवासियों को यह मंजूर नहीं था। उन्होंने उसके लिए कई प्रयत्न किए। संघर्ष की बात प्रदर्शन और आन्दोलन से चल कर सर्वोच्च न्यायालय तक पहुँची। सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के तहत 12 ग्राम सभाएँ हुईं। सभी ग्राम सभाओं में आदिवासी ग्रामवासियों ने एकमत से कंपनी के खिलाफ वोट दिया। एक भी व्यक्ति कंपनी के पक्ष में नहीं था। ऐसा इतिहास में पहली बार हुआ। यह एक अहिंसक आंदोलन की ऐतिहासिक उपलब्धि थी। इन ग्राम सभाओं पर केवल देश की ही नहीं दुनिया भर की नजर थी।

इस सफलता का महत्व कई कारणों से है। सबसे पहले तो इससे यह सिद्धान्त स्थापित हुआ कि किसी भी क्षेत्र में परियोजना लागू करने का निर्णय करने का अधिकार उस क्षेत्र के स्थानीय लोगों को है। इस संघर्ष में यह एक प्रकार का जनमत संग्रह था।

दूसरा पूरा आंदोलन पूरी तरह से अहिंसक रूप से चला, बावजूद इसके कि उस इलाके तथा आसपास के इलाके में तथाकथित माओवादियों की उपस्थिति है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि संघर्ष करने के लिए हिंसक होना जरूरी नहीं। आज के समय में भी अहिंसक होक संघर्ष किया जा सकता है और उसके सकारात्मक परिणाम भी आते हैं। तीसरा, परंपरागत रूप से दलितों और आदिवासियों के बीच चली आ रही कटुता और टकराव के बावजूद इस संघर्ष में आदिवासियों ने दलित कार्यकर्ताओं पर भी अपना पूरा भरोसा दिखाया।

अफलातून ने इस संघर्ष को करीब से देखा है, जाना है। उनके पूरे वक्तव्य में यह बात पूरी शिद्दत से दिखाई दे रही थी पूरे संवाद के दौरान अफलातून कहीं उग्र नहीं दिखाई दिए। आंदोलनकारी गतिविधियों का हिस्सा रहने के बाद भी अफलातून पूरी समता के साथ एक संघर्ष प्रक्रिया का बयान कर रहे थे। उनके वक्तव्य से पूर्व नियमगिरी की भौगोलिक और सामाजिक परिदृश्य को क पावर प्वाइंट प्रस्तुति के माध्यम से श्री उपेन्द्र शंकर के दर्शकों के समक्ष पर्दे पर प्रस्तुत किया। बाद में खुली चर्चा का सत्र भी रखा गया। प्रसंगवश राजस्थान के डूंगरपुर इलाके के आदिवासी श्री गोविन्द गुरु के आंदोलन का जिक्र भी आया और पानी के कारण कई शहरों में किये गये अहिंसक आंदोलन का जिक्र भी आया। वेदांता द्वारा किया जा रहा बॉक्साइट का खनन कई स्थानों पर चल रहा है, मगर नियमगिरी के आदिवासी अपनी धरती खोखली होने से बचा सके हैं।

बॉक्साइट एल्यूमिनियम बनाने के काम आता है जिसका जीवन से कोई सीधा संबंध नहीं है।

रचना सिद्धा, कार्यक्रम अधिकारी, रासके., जयपुर

धरती का नर्क : भारत

श्याम रुद्र पाठक

राम मनोहर लोहिया के नेतृत्त्व में जो 'अंग्रेज़ी हटाओ' का आन्दोलन चला था वह सिद्धांत रूप में तो ठीक था, क्योंकि किसी भी स्वाधीन देश में किसी विदेशी भाषा के व्यापक इस्तेमाल का कोई औचित्य नहीं है । लेकिन भारी जन-भागीदारी के बावजूद इस आन्दोलन की औपचारिक उपलब्धि के रूप में मुझे कुछ भी नजर नहीं आता । लोहिया के अनेक चेले राजनीति में भी उच्च पदों पर गए लेकिन उनलोगों ने भी अंग्रेज़ी हटाने पर तो कोई जोर नहीं ही दिया, इतना भी नहीं किया कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ने वाले विशाल विद्यार्थी समुदाय को सरकार द्वारा आयोजित सभी प्रतियोगिता परीक्षाओं में किसी एक भी भारतीय भाषा के माध्यम से सम्मिलित होने का विकल्प मिल सके ।

मैं नहीं मानता हूँ कि भारत में लोग इसलिए अंग्रेजी सीख रहे हैं कि उनको अंग्रेजी से कोई लगाव है । अगर अंग्रेजी को हटाए बिना भी सभी प्रतियोगिता परीक्षाओं और सभी न्यायालयों में अंग्रेज़ी की अनिवार्यता समाप्त कर दी जाए अर्थात् एक-एक या एकाधिक भारतीय भारतीय भाषा का विकल्प अधिकृत कर दिया जाए तो अंग्रेज़ी सीखने वाले विद्यार्थी और अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ाने वाले स्कूल कुछ ही दिनों में समाप्त प्राय हो जाएँगे । अभी तो भारत में विकास के अवसर प्राप्त करने के लिए अंग्रेज़ी अनिवार्य है और जो विद्यार्थी अंग्रेज़ी माध्यम से नहीं पढ़ते उनके खिलाफ सरकार की ओर से अघोषित लेकिन स्पष्ट प्रतिबन्ध है । लेकिन अगर अंग्रेज़ी की अनिवार्यता समाप्त हो जाए और सभी प्रतियोगिता परीक्षाओं में भारतीय भाषा का विकल्प मिलने लगे तो वे विद्यार्थी आगे बढ़ेंगे जो अपनी भाषा के माध्यम से पढेंगे क्योंकि उनके पास विषय-वस्तु को समझने के लिए स्वाभाविक भाषा रहेगी, अतः अंग्रेज़ी में पढ़ने वाले विद्यार्थी तुलनात्मक रूप से पिछड़ने लगेंगे ।

अतः मेरी समझ से अपनी ताकत की असलियत समझते हुए और भारत के बेईमान अंग्रेजीदाँ आभिजात्य वर्ग की वास्तविक ताकत को समझते हुए हमें अंग्रेज़ी हटाओ की माँग न करके अंग्रेज़ी की अनिवार्यता हटाने की माँग करनी चाहिए । हमें यह माँग करनी चाहिए कि भारत देश में हम पर अंग्रेज़ी थोपी न जाए ।

जो कोई भी दक्षिण भारत में हिंदी के विरोध का मुद्दा उठाते हैं, उनसे पूछा जाना चाहिए कि मद्रास उच्च न्यायालय में अगर अंग्रेज़ी के साथ-साथ तमिल के प्रयोग को भी अधिकृत कर दिया जाए तो क्या तमिलनाडु के लोग इसका विरोध करेंगे ? या कि हिंदी भाषी प्रांत के लोग इसका विरोध करेंगे? तमिलनाडु की जनता, तमिलनाडु के वकील और वहाँ की दोनों स्थानीय पार्टी की सरकारें केंद्र सरकार से कई बार यह माँग कर चुके हैं कि मद्रास उच्च न्यायालय में अंग्रेज़ी के साथ-साथ तमिल के प्रयोग को भी अधिकृत कर दिया जाए । लेकिन केंद्र सरकार उनकी माँग अनसुनी करती रही है, जबकि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में अंग्रेज़ी की अनिवार्यता घोषित करने वाला हमारा घटिया संविधान भी अनुच्छेद 348 के खंड 2 में यह व्यवस्था करता है कि केंद्र सरकार अगर चाहे तो किसी राज्य सरकार की माँग पर वहाँ के उच्च न्यायालय में उस राज्य सरकार की राज भाषा का प्रयोग अधिकृत कर सकती है ।

इसी तरह से छत्तीसगढ़, गुजरात, पश्चिम बंगाल और कर्णाटक जैसे राज्यों की सरकारों द्वारा भी वहाँ की उच्च न्यायालयों में उन-उन राज्यों की राज भाषा का प्रयोग अधिकृत करने की प्राथना केंद्र सरकार द्वारा ठुकराई जा चुकी है ।

भारत के उच्चतम न्यायालय और 24 में से 20 उच्च न्यायालयों में भारत की जनता को देश की किसी भी भाषा में न्याय प्राप्त करने का हक़ नहीं है ।

इस आधार पर वाकई भारत इस धरती का नर्क है । चार उच्च न्यायालयों में 1950 (राजस्थान), 1970 (उ प्र), 1971 (म प्र) और 1972 (बिहार) में हिंदी का प्रयोग अधिकृत हो चुका है; ऐसी हालत में अन्य राज्यों की जनता को ऐसा हक़ नहीं देना गुंडागर्दी है और राष्ट्रीय एकता को कमजोर करने का काम है ।

जब तक देश में विदेशी भाषा अंग्रेज़ी में काम होगा, तब तक भारत की आम जनता की प्रतिभा की बर्बादी होती रहेगी और भारत देश अपनी तरक्की में आम जनता की प्रतिभा के उपयोग से वंचित रहेगा ।

●

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित